प्रस्तावना

धर्म का सच्चा अर्थ कर्तव्य अथवा फर्ज होता है। कर्तव्य पराय
मनुष्य ही जगत् में मान पाते हैं। और वे ही सुखी होते है। इसी प्रका
इन्हीं का विश्वास भी सभी करते हैं। जिस मनुष्य को अपने कर्तव्य क
भान नहीं होता है; अर्थात् मुझे कौनसा कार्य करने योग्य है औ
कौनसा छोड़ने योग्य है; ऐसा ज्ञान जिसको नही है; वह मनुष्य वायुसे
उड़ते हुए तृण के समान इधर उधर भटकता हुआ और फिरता हुअ
पीड़ित होता है; तथा दुःख भी पाता है।

इस संसार रूप घोर अटवी में आधि, व्याधि एवं उपाधिरूप
दुःखों से परितप्त होकर अंत में कुगति को प्राप्त होता है। इसलिए
सुख के चाहने वाले मनुष्यों के लिये धर्म की परम आवश्यकता है।
"सच्चा धर्म मनुष्य के लिये केवल परलोक में ही सुखकारक है;"
इतनी सी ही उसकी मर्यादा नहीं है; किंतु इसलोक में भी वह प्रत्यक्ष
रूपसे फलदाता है। धर्म को जान करके तथा उसका उसी प्रकार से
बर्ताव करने से धार्मिक पुरुष को इस जन्म में ही इसप्रकार का एक
खजाना प्राप्त होता है कि जिसकी बराबरी करने के लिये हजारों
कोहनूर हीरे भी समर्थ नहीं हो सकते हैं। यह खजाना न तो धन के रूप
में होता है और न बादशाही सत्ता के रूप में ही होता है। क्योंकि धनसे
अथवा बादशाही सत्ता से सुख प्राप्त करने वाले कोई विरले ही देखे जाते
हैं; जबकि इस खजाने द्वारा तो अन्तःकरण मे सुख का प्रवाह प्रवाहित
होने लगता है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है; जो कि मनुष्य
को चिन्ता से तथा उपाधि जनित दुःख से बचा सके। यह शक्ति तो
केवल धर्म मय अन्तःकरण में ही रही हुई है कि इसके बल से पुरुष
किसी भी प्रकार की आधि, व्याधि, और उपाधि से उत्पन्न होने वाले
दुःखों के समूह से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

डर से रहित हूं। मैं स्वतन्त्र और सुखी हूँ। जिस वस्तु की जिस समय [समय]
मैं कामना करता हूं; वह वस्तु मुझे मिल जाया करती हैं; और [और]
अनीच्छनीय के लिये मैंने कभी भी इच्छा नहीं की है। क्या कभी किसी [किसी]
ने मुझे अम्लान मुख वाला देखा है? जिससे तुम डरा करते हो और [और]
जिसकी तारीफ तुम किया करते हो; उससे मैं शांत चित्त से मिला [मिला]
करता हूं और क्या कभी मैं उसका दास बना हूं? आप जानते हैं कि [कि]
बड़े बड़े राजा और महाराजा भी मुझे इस प्रकार मिलने की इच्छा करते [करते]
है कि मानों वे अपने से बड़े महाराजाधिराज से मिलना चाहते हों। "

यही दृष्टांत साधु महात्माओं के लिये भी समझना चाहिये। इस
प्रकार के दृष्टांत प्रत्यक्ष रूप से उपदेश देते है कि मनुष्य के लिये केवल
धर्म और कर्तव्यपरायण होना ही एक सार्थक वस्तु है।"

क्या धन-वैभव और साम्राज्य से भी अधिक यह सुख नहीं है? [?]
इसलिये यह स्पष्ट है कि धर्म-परायणता से ही जीवन में वास्तविक सुख [सुख]
की प्राप्ति हो सकती है।

संसार में आजदिन तक सभी दुष्टों का और दुःखद वस्तुओं का [का]
नाश करने के लिये स्वयं काल भी समर्थ नहीं हुआ है; फिर अन्य की [की]
तो बात ही क्या है? तथापि धर्म-परायण सज्जन अपने आपको दुष्टों से [से]
और दुष्ट-वृत्तियों से बचा सकते है। जिस प्रकार संपूर्ण पृथ्वी पर कांटों [कांटों]
से रक्षा करने के लिए चमड़ा नहीं बिछाया जा सकता है; परन्तु अपने [अपने]
पैरों में जूतियां पहनने से संपूर्ण पृथ्वी अपने लिये तो चर्ममय हो जाती [जाती]
जाती है। और इस रीति से पृथ्वी पर पाये जाने वाले कंकर, तथा कांटे [कांटे]
आदि से रक्षा तो स्वतः ही हो जाती है। इसी तरह से समझ लेना [लेना]
चाहिये कि इस अनादि विश्व में दुष्ट पुरुषों का, दुष्ट भावनाओं का, और [और]
दुष्ट पदार्थों का अस्तित्व सदैव से है; उन सभी का नाश करके स्व[…]

और दुराचरण सभी एक साथ नष्ट हो जायेगें । विश्व में मैत्री भाव का सूर्योदय हो जायगा । शारीरिक व्याधियां और मानसिक चिन्ताएँ नष्ट हो जायेगीं । एवं विश्व के प्राणी सुखी तथा शांति-संपन्न हो जायेगें । अब प्रश्न यह रह जाता है कि वह धर्म अथवा सत्कर्तव्य कौनसा है ! कि जिसमें शक्ति का व्यय करके आत्मा सुखी बने । समस्त-केरगे प्रश्न सरल होता हुआ भी उलझा हुआ ही प्रतीत होता है । विश्व में धर्म के नाम पर अनेक झगड़े खड़े हो जाया करते हैं; और इस प्रकार धर्म के स्थान पर अधर्म की उत्पत्ति हो जाती है । यदि जैन धर्म को सच्चा कहा जाय तो वेदांत आदि वैदिक धर्म वाले झगड़ने के लिये तैयार हो जायेगें और इसी प्रकार यदि वैदिक धर्म को सत्य कहा जाय तो जैन एवं बौद्ध आदि इसका खंडन करने के लिये कटिबद्ध हो जायेगें । इस पद्धति ने और इन धार्मिक क्लेशों ने अनेक भोले प्राणियो को धर्म से ही विमुख बना दिया है । परिणाम-स्वरूप अनेक मानव नास्तिक बन गये है । सारांश यही है कि जो इन धार्मिक क्लेशों मे फंसते हैं; वे केवल बाह्य रूप से ही धार्मिक है । तथा अपनी आत्मा का घोर पतन ही करते है । विवेकशील मानवो का कर्तव्य है कि वे ऐसे पुरुषों की बुद्धि पर दया करें। इस सिद्धांत के अनुसार मैं किसी भी प्रकार की चर्चा से दूर रहता हुआ और किसी का भी अन्तः करण नहीं दुखाता हुआ एवं किसी भी धर्म को ऊंचा नीचा जैसा स्थान अर्पण नहीं करता हुआ केवल मेरी अपनी सामान्य बुद्धि द्वारा तथा श्रवण, पठन, और मनन से उत्पन्न अनुभव द्वारा जो धर्म का स्वरूप मुझे ज्ञात हुआ है; उन्हीं त्रिकाल सत्य सिद्धांतों का इस पुस्तक में विवेचन करते हुए धर्माभिलाषियो के कर-कमलो मे समर्पण करता हूँ; वे इसे ध्यानपूर्वक पढ़ें और यदि उनकी बुद्धि में ये बातें ठीक प्रतीत हो तो; वे इन्हें स्वीकार करें और इन सैद्धांतिक बातों का इच्छानुसार कुछ भी नाम स्थापित करें । इति शुभम् ।

—अमोलक ऋषि

१० **संयम काल**-पूर्ण वैराग्यमय, कर्मण्यतामय, और साहित्य-सेवा करते हुए सानंद व्यतीत किया। आपश्री बाल ब्रह्मचारी थे, सभी संप्रदाय के संत समुदाय और श्रावक वर्ग पूज्य श्री जी के प्रति समान भावसे प्रेम, सहानुभूति, भक्ति और आदर रखते थे। आप शांत, दांत और क्षमाशील थे। अपने युग में आपश्री एक आदर्श साधु के रूप में विख्यात तथा सम्मानित थे।

११ **साहित्य सेवा**-आपश्री द्वारा अनुवादित, संपादित, लिखित, और संग्रहित एवं रचित ग्रंथोंकी संख्या १०२ है। जिनकी कुल प्रतियां १७६३२५ प्रकाशित हुई। कुल ग्रंथोंकी मूल प्रेस कॉपी के पृष्ठों की संख्या पचास हजार जितनी है।

१२ **दीक्षित शिष्य**-आप द्वारा दीक्षित संतों की याने खुदके शिष्यों की संख्या १४ है।

१३ **संयम काल**-पूज्य श्री जी ने ४८ वर्ष ६ महिना और १२ दिन तक साधु-जीवन की याने संयमकालकी परिपालना की।

१४ **पुण्य तिथि**-संवत् १९९३ के दूसरे भाद्रपद कृष्णा १४ तदनुसार ता. १३-९-१९३६ की रात्रि के ११॥ बजे धूलिया (पश्चिम खानदेश) में समाधि पूर्वक एवं शांति के साथ स्वर्गवास किया। उस समय पूज्य श्री जी की आयु ६० वर्ष और ९ दिन की थी।

नोट:-चरित्र-नायक पूज्यश्री जी के पिताश्रीजी केवलचंदजी ने भी दीक्षा ग्रहण की थी, और वे "तपस्वी श्री केवल ऋषिजी" के नाम से जैन-समाज में विख्यात और पूजनीय हुए।

सिद्ध—संयतों का शरण-ग्रहण करके अपनी आत्मा के तथा सर्व जनों के कल्याण के लिए, वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट दस धर्मों × का स्वरूप अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार कहता हूँ।

धर्म के भेद

धर्म दस प्रकार से होता है, जिसे 'पवित्र फरमान' अर्थात् हुक्म भी कहते हैं।

गाथा—खंती मुत्ती अज्जव मद्दव लाघव सच्चे
संजम तवे चेइय बंभचेर।

अर्थात्—(१) खंती-क्षमा धारण करना, (२) मुत्ती-लोभ का त्याग करना, (३) अज्जव-आर्जव अर्थात् सरलता धारण करना, (४) मद्दव-मृदुता-नम्रता-निरभिमान होना। (५) लाघव-लघुता धारण करना। (६) सच्चे-सत्य का पालन करना। (७) संजम-संयम रखना। (८) तवे-तप-भक्ति के अनुसार तपस्या करना। (९) चेइय-ज्ञानाभ्यास और (१०) बंभचेर-ब्रह्मचर्य।

आगे के प्रकरणों में प्रत्येक धर्म का विस्तार से वर्णन किया जाएगा।

× मनुस्मृति में भी धर्म के दस प्रकार माने गये हैं :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म लक्षणम्।

अर्थात्—(१) मन की स्थिरता (२) क्षमा (३) आत्मदमन (४) अचौर्य (५) शुद्धता (६) इन्द्रियों का निग्रह (७) धैर्य (८) विद्या (९) सत्य (१०) अक्रोध, यह धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं।

सोलह के साथ पच्चीस का गुणा कर देने पर क्रोध के ४०० भेद हुए।

जीव क्रोध के पुद्गलों को छह प्रकार से बांधता और क्षय करता है :—(१) चयणे—अर्थात् क्रोध के दलिकों (पुद्गलों के समूह) को इकट्ठा करे। (२) अवचयणे—अर्थात् इकट्ठें किये हुए दलिकों को जमाना (३) बंधे—जमे हुए दलिकों का बंध करना (४) वेए—बँधे हुए दलिकों को आत्मप्रदेशों और कर्म-प्रदेशों द्वारा वेदन करना-भोगना (५) उदीरणा—ज्यों-ज्यों दलिकों को भोगता जाय त्यों-त्यों उसकी उदीरणा करना—प्रयत्नपूर्वक उदय में लाना (६) निज्जरे-अर्थात् उदीरणा या उदय को प्राप्त हुए दलिकों की निर्जरा करना। कितनेक भव्य प्राणी तप या पश्चात्ताप के द्वारा क्रोध के दलिकों का क्षय कर देते हैं।

यह ६ बोल गतकाल आश्रित, ६ वर्तमानकाल आश्रित और ६ भविष्यकाल आश्रित; सब मिलकर १८ भेद हुए। यह १८ भेद निजाश्रित और १८ पराश्रित के भेद से छत्तीस हो जाते हैं। यह ३६ भेद २४ दंडकों पर और पच्चीसवें जीव पर लगे हैं; इसलिए ३६ × २५ = ९०० भेद हुए।

इस प्रकार पूर्वोक्त चार सौ और यह नौ सौ भेद मिलकर १३०० भेद क्रोध के होते हैं। अब विचार कीजिए कि जिस राजा के पास १३०० सुभट हैं, उसकी प्रबलता कितनी न होगी ?

क्रोध-कटक को काटने की युक्ति

क्रोध का कटक इतना जबर्दस्त है, फिर भी युक्ति से उस का संहार किया जा सकता है। इसके संहार की जो युक्ति है, उसे क्षमा कहते हैं। दशवैकालिक सूत्र के ८ वें अध्ययन में कहा है :—

क्रोध करना मेरे लिए उचित नहीं है। अज्ञानी तो दया का पात्र है—इस पर दया करनी चाहिए। इसे भूल से बचाना चाहिए।'

इस प्रकार विचार कर गाली देने वाले के पास जाकर उससे कहना चाहिए—'भाई जी ! मुझसे आपका कोई अपराध हुआ होगा। उस अपराध के लिए आप मुझे क्षमा कीजिए।' इत्यादि कह कर उसे शान्त करना चाहिए। अंकुश से बड़ा हाथी भी वश में हो जाता है और जल में अग्नि शान्त हो जाती है। तो फिर नम्रता से-दीनता से शत्रु भी शान्त होकर वश में हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या? जैसे मनुष्य हाथी को पहले पकड़ते-वश में करते है और फिर अपनी इच्छा के अनुसार उसे शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार प्रथम तो क्रोधी को नम्रता से वश में कर लो और फिर उसका दोष उसे समझा कर शुद्ध शिक्षा दो।

(३) 'अमुक मनुष्य मुझे गाली देता है तो भले दे ! इसमें मेरी क्या हानि है ! गाली देने वाले का मुँह थक जायगा तो आप ही चुप हो जायगा • उत्तर देकर मैं अपने मुख को क्यों व्यर्थ कष्ट दूँ ? कुत्ते का स्वभाव काटना है तो क्या मनुष्य भी बदला लेने के लिए कुत्ते को काटने दौड़े ?

(४) अमुक मनुष्य मुझे चाण्डाल, दुष्ट, मूर्ख आदि शब्द कहता है, सो वास्तव में वह मुझे पूर्वभव का स्मरण कराता है; क्योंकि पूर्वभव में मैंने बहुत-से चाण्डाल के कृत्य, बहुत-से मूर्ख के

• गाली दीधा एक है, पलटया होत अनेक।
जो गाली देवे नहीं, रहे एक की एक।

किसी ने आपको गाली दी और आपने चुपचाप उसे सहन कर लिया तो वह एक ही रहेगी। अगर आपने उत्तर में गाली दी तो गालियों की परम्परा चल पड़ेगी और वह अनेक हो जाएँगी।

कृत्य और बहुत-से दुष्ट के कृत्य किये हैं। सच पूछो तो यह मेरा उपकारी है जो मुझे मेरी पिछली अवस्था की याद दिला रहा है। वह चेतावनी दे रहा है कि—अरे मूर्ख ! बार-बार जन्म-मरण के दुःख सहन करने पर भी तुझे अक्ल नहीं आई !!'

इस प्रकार गालियाँ सुनकर सीधा अर्थ लेना चाहिए। इससे समताभाव की वृद्धि होती है। समता में बड़ा भारी चमत्कार है। एक कवि ने कहा है:—

सीधो साहो मोक्ष दे, उलटो दुर्गत देख।
अक्षर तीन कूं ओलखो, दोय लघु गुरु एक॥

दो लघु और एक गुरु अक्षर वाला शब्द 'समता' है। इस 'समता' शब्द को सीधा पढ़ा जाय तो वह 'समता' बनता है। यह समता मुक्ति देने वाली है। अगर इन्हीं अक्षरों को उलट कर पढ़ा जाय तो 'समता' के बदले 'तामस' हो जाता है। तामस दुर्गति का पात्र बनता है !

(५) ज्ञानदृष्टि से विचार करूँ तो मेरा जैसा बुरा कोई नहीं है। जो मनुष्य मुझे बुरा कहता है, वह बुरा नहीं है बल्कि वह बूरा (शक्कर) जैसा है, क्योंकि मुझे पूर्वभव का स्मरण कराता है।

'बुरा बुरा सबको कहे, बुरा न दीसे कोय,
जो घट सोधूं आपको, मो सम बुरा न कोय।
सभी बुरा तुझको कहे, ताहि भला कर मान,
बूरा मीठा होत है, बने सभी पकवान।'

(६) कितनीक गालियों के भावार्थ पर विचार किया जाय तो ये गालियाँ आशीर्वाद जैसी मालूम होती हैं। जैसे:—

(क) तेरा खोज मिटे। ऐसी गाली कोई दे तो विचारना चाहिए कि जब मैं मोक्ष में जाऊँगा तभी मेरा खोज मिटेगा। अतः गाली देने वाला मुझे मोक्ष प्राप्त करने का आशीर्वाद दे रहा है।

(ख) कर्महीन ! अकर्मी ! ऐसी गाली कोई दे तो विचारना चाहिए कि यह मुझे सिद्ध पद दे रहा है। क्योंकि जिसके समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है वही कर्महीन, अकर्मी अर्थात् सिद्ध भगवान् होता है।

(ग) अगर कोई 'साला' कह कर गाली दे तो विचारना चाहिए कि इस की स्त्री अपनी भगिनी हुई। पवित्र पुरुष परस्त्री पर भगिनी का भाव तो रखते ही हैं।

(७) जिसके पास जैसी वस्तु है, वह बेचारा वैसी ही वस्तु देगा। वह दूसरी वस्तु कहां से लाएगा ? हलवाई की दुकान पर मिठाई मिलती है और चमार के पास जूते मिलते हैं।

(८) जिस शब्द को मैं गाली मानता हूँ उसे अपने हृदय में स्थान ही क्यों दूं ? बुरी वस्तु को सब लोग छोड़ देते हैं ग्रहण नहीं करते हैं। तो मैं गाली को क्यों ग्रहण करूं ?

(९) ज्ञानी पुरुष दूसरे के दुर्वचन सुनकर शान्त चित्त से विचार करे-यह जो कहता है सो वह दुर्गुण मेरी आत्मा में है या नहीं ? विचार करने पर उस दुर्गुण का आत्मा में होना मालूम पड़े तो सोचना चाहिए-'अहा ! यह पुरुष धन्य है ! इसने वैद्य की तरह, मेरी नाड़ी वगैरह बिना देखे ही मेरा दर्द बता दिया ! अब उस दर्द को दूर करने का उपाय करना चाहिए। ऐसा सोच कर उस दुर्गुण को दूर करने के प्रयत्न में लग जाय

विचार करने पर वह दुर्गुण अपने में मौजूद मालूम न पड़े तो विचार करना चाहिए कि-मेरी आत्मा में यह दुर्गुण

नहीं है तो क्या इसके कहने से आ जायगा ? रत्न को काच कहने से क्या रत्न काच हो सकता है ? अब अगर मैं इस पर क्रोध करता हूँ तो मेरे जैसा अज्ञानी दूसरा कौन होगा ? फिर ज्ञानी और अज्ञानी में क्या भेद रह जायगा ?'

(१०) अगर मैं अपनी इच्छा से दूसरे के वचन को भी सहन नहीं कर सकता तो नरक और तिर्यंच गति के वध-बंधन आदि घोर दुःखों को किस प्रकार सहन कर सकूंगा ? नरक के दुःखों की तुलना में गाली सुनने का दुःख तो उतना ही है जितना सुमेरु की तुलना में राई या सरसों का एक दाना !

(११) किसी समय कोई मनुष्य अत्यन्त द्वेष से प्रेरित होकर घूंसे मारे, लात मारे या लाठी आदि का प्रहार करे तो ज्ञानी पुरुष को विचार करना चाहिए:-इस मारने वाले के साथ मेरा पूर्वजन्म का वैर होगा। मैंने पहले इसका कुछ बिगाड़ किया होगा। वह ऋण अभी तक मेरे सिर चढ़ा हुआ था। अब उसे यह वसूल कर रहा है तो अच्छी बात है। मुझे ऋण से मुक्त हो जाना ही चाहिए। आज नहीं तो फिर कभी न कभी लिया हुआ चुकाना तो पड़ेगा ही। शास्त्र में कहा है-

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

—श्री उत्तराध्ययन, ४.

अर्थात्-किये हुए कर्मों को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता।

इस समय पूर्व भव के वैर का ऋण चुकाने में समर्थ हूँ, तो प्रसन्नतापूर्वक चुका देना चाहिए। इस समय क्रोध करके नया ऋण नहीं करना चाहिए।'

दृष्टान्त—एक किसान को किसी साहूकार के सौ रुपये देने हैं। साहूकार रुपये मांगने आया। अब किसान अगर साहूकार का आदर-सत्कार करके कहे कि-'सेठजी ! मैं गरीब

आदमी हूँ। मेरे पास सी रुपये तो नहीं हैं, पचत्तर हैं। इतने रुपये लेकर मुझ गरीब पर कृपा करके, चुकता रकम पा लेने की रसीद लिख दीजिए।'

इस प्रकार के नम्र वचन मुन कर साहूकार को संतोप होता है; उसे प्रसन्नता होती है। वह पच्चीस रुपया कम लेकर भी चुकता रकम पाने की रसीद लिख देता है। इसके विरुद्ध कर्जदार अगर हेकड़ी दिखलाता है कि–जा, मैं रुपये नहीं देता! तुमसे बने सो कर लेना!' तब साहूकार उसे अदालत में घसीटता है और व्याज तथा मुकदमे के खर्च सहित पूरे रुपये वसूल करता है। अतएव दूसरे का जो ऋण देना है सो नम्रतापूर्वक चुकाना चाहिए।

(१२) ज्ञानी पुरुप को विचारना चाहिए कि–'यह जो समता है सो मुझे नहीं मारता है। यह मेरे शरीर को मारता है। शरीर पुद्गल है और पुद्गलमय पिण्ड (शरीर) का कभी न कभी नाश होने ही वाला है। मुझे मारने या तारने की शक्ति मेरे सिवाय और किसी में नहीं है। मैं अजर-अमर-अखंड-अक्षय-अविनाशी हूँ। मेरा कोई तनिक भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

(१३) ज्ञानवान् पुरुष को सोचना चाहिए–अनन्त पुण्य के उदय से मैंने जैनधर्म पाया है। वीतराग प्रभु की परम कल्याण-कारिणी वाणी को श्रवण करने का मुझे सौभाग्य मिला है। भगवान् की वाणी का सार क्षमा (समता) है। उसे भी मैंने धारण किया है। उस धर्म की मैंने पूरी तरह साधना की है या नहीं कर पाई है, इसकी परीक्षा के लिए यह समय आ पहुँचा है। मुझे मारने वाला यह पुरुष मेरे धर्म का परीक्षक है। इसलिए हे आत्मन्! तू शान्त भाव से, अच्छी तरह परीक्षा दे। घबरा मत। पीछे मत हट। अगर परीक्षा का यह अवसर न आता तो कैसे मालूम होता कि भगवान् की पदवी (क्षमावान् होने की)

आज्ञा को तू भलीभांति पाल सकता है या नहीं ?

(१४) मैंने नरक में परमाधामियों के हाथों से मुद्‌गरों की मार सहन की है, अन्य घोर वेदनाएँ भुगती हैं; देवगति में भी परवश होकर वज्र के प्रहार सहन किये हैं। फिर आज इस जरा-से दुःख से कायर होकर क्यों भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करूँ और क्यों दुर्गति का अधिकारी बनूँ ?'

(१५) 'हे सुख के अभिलाषी आत्मन् ! तू चन्दन की तरह शीतल स्वभाव वाला बन ! सागर की तरह उदार और गंभीर बन ! फूल की तरह दुःख देनेवाले को भी सुखदायी बन ! अगर तेरे क्षणभंगुर शरीर के विनाश से हो दूसरे प्राणियों को सुख होता है तो होने दे। दूसरों का सुख देखकर तू सुखी होकर रह।'

(१६) 'अगर कृतघ्न और द्वेषी पुरुष इस जगत् में न होते तो तेरे जैसे संत पुरुष की पहचान ही कैसे होती ? अंधकार ही तो प्रकाश की महिमा का विस्तार करता है ! अतः कृतघ्न और द्वेषी पुरुष तो तेरे सद्‌गुणों को प्रकाशित और प्रसारित करनेवाले उपकारी जीव हैं।'

(१७) 'जो समर्थ होकर क्षमा कर देता है उसकी बलिहारी है ! वह धन्य है ! बेचारा निर्बल तो वैर का बदला ले ही नहीं सकता। जो सबल होने पर भी वैर का बदला न ले, बल्कि क्षमा गुण में स्थित रहे, वही धन्यवाद का पात्र है। वैर का बदला लेना सरल है, क्षमा कर देना कठिन है। वैर का बदला लेना मानसिक दुर्बलता है और यह दुर्बलता अधिकांश मनुष्यों में पाई जाती है। क्षमा करने के लिए आत्मसंयम और हृदय की उदारता की आवश्यकता होती है। यह गुण विरले ही सत्पुरुष में पाये जाते हैं।'

(१८) सत्पुरुष के लिए यही उचित है कि वह अपने महान्

प्रतापी पिता का अनुकरण करे। अपने परम-पिता महाप्रभु महा-वीर एक समय में, किसी गाँव के वाहर ध्यान में मग्न होकर खड़े थे। वहाँ एक गुवाल गायें चराने के लिए आया। उसने खड़े हुए महावीर प्रभु को देखकर कहा–' हम रोटी खाने के लिए जाते हैं। तुम हमारी गायें देखते रहना।' भगवान् ध्यान में लीन थे। गायें इधर-उधर चली गई। गुवाल आकर वहुत कुपित हुआ और भगवान् को मारने लगा। तव शक्रेन्द्र ने आकर गुवाल की गायें ला दीं और प्रभुसे कहा–आप पर ऐसे–ऐसे वहुत संकट आएँगे। उन संकटों को दूर करने के लिए मैं आपके साथ रहूँगा। तव भगवान् ने उत्तर दिया–इन्द्र! मैंने पहले जो कर्म किये हैं उन्हें मैं ही भोगूंगा।

प्रभु में ऐसी अलौकिक शक्ति थी कि वे चाहते तो दृष्टिमात्र से ही गुवाल को भस्म कर देते; किन्तु तीर्थंकर भगवान् जैसे वलवान् होते हैं वैसे ही क्षमावान् होते हैं। तभी तो क्षमाशूरा अरिहन्ताः' कहे जाते हैं।

मेरा वड़ा भाग्य है कि मैंने क्षमासागर प्रभु का धर्म और शरण पाया है! फिर क्रोध करना क्या मेरे लिए उचित है?

क्षमा की प्रशंसा

क्षमा इस लोक में और परलोक में परम सुख देनेवाली है। क्षमा संसार-समुद्र से तारनेवाली है। क्षमा सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र को धारण और रक्षण करनेवाली है। क्षमा अनेक सद्-गुणों को प्रकट करनेवाली है। क्षमा चिन्तामणि, कामकुंभ, पारसमणि, कामधेनु आदि से भी अधिक सुख देनेवाली है। क्षमा मन को पवित्र और चित्त को उज्ज्वल करनेवाली है। माता के समान तन की रक्षा करनेवाली है। इच्छित कार्य को सिद्ध करने में महामोहिनी-मंत्र है। क्षमावान् मनुष्य किसी का भी

बुरा नहीं सोचता, किसी का भी बुरा नहीं करता और न किसी को बुरे लगने वाले वचन बोलता है। अतः सारे संसार में उसका कोई वैरी नहीं होता।

इस जगत् में जो जो शुभ गुण हैं, उन सब को धारण करने वाला क्षमा ही है इसलिए कहा गया है—

क्षमा स्थापयति धर्मं ।

अर्थात्–क्षमा ही धर्म के रहने का स्थान है।

क्षमा समा न दूसरा तप नहीं है। नीतिनिपुण चाणक्य ने ठीक ही कहा है–'क्षमातुल्यं तपो नास्ति।'

श्री हुकममुनिकृत 'अध्यात्मप्रकरण' में कहा–'एक मनुष्य ६६ करोड़ उपवास करे और दूसरा मनुष्य समर्थ होने पर भी गाली सहन कर लेवे, तो दोनों में गाली सहन करने वाले को अधिक फल होता है।'

इसलिए आत्मसुखार्थी प्राणी को सदा सर्वथा क्रोध का त्याग और क्षमा का अनुसरण करना ही उचित है।

अब मैं यूरोपियन विद्वानों के भी थोड़े से वचनामृत ऐसे लिखता हूं,जिनमें थोड़े से शब्दों में बहुत गंभीर अर्थ भरा हुआ है:—

Anger begins with folly, and ends with repentance. —*Maunder's Proverbs*

क्रोध की आदि में मूर्खता है और अन्त में पश्चात्ताप है।
—मोण्डर

An angry man opens his mouth and shuts his eyes. —*Cato.*

क्रोधी मनुष्य का मुंह खुलता है और आंखें बंद हो जाती हैं। —केटो।

When passion enters at the foregate, wisdom goes out at the Postern— *Fielding's Proverbs.*

जब अगले द्वार से क्रोध प्रवेश करता है तब पिछले द्वार से बुद्धि भाग जाती है। —फील्डिंग.

No man is free who does not command himself. —*Pithagoras.*

वह आदमी स्वाधीन नहीं है जो अपने को अपने काबू में नहीं रखता। —पीथागोरस.

An angry man is again angry with himself when he returns to reason. —*Publius Syrus.*

क्रोधी मनुष्य जब शान्त होता है तब उसे अपने ऊपर क्रोध आता है। —पब्लीअस साइरस।

Anger is certainly a kind of baseness, as it appears well in the weakness of those subjects in whom it reigns.-Children, old folks, sick folks —*Lord Bacon.*

निस्संदेह क्रोध नीचता का चिह्न है। यह अपना साम्राज्य बाल, वृद्ध और बीमारों पर रखता है। —लॉर्ड बेकन।

Forgiveness is the noblest revenge.

क्षमा वैर का सर्वोत्तम प्रतीकार है। —अज्ञात

Whosoever shall smite thee on thy right cheek turn to him the other also. — *Matt V. 39.*

अगर कोई तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे तो बांया गाल भी उसकी तरफ कर दे। —बाइबिल

Bless them that curse you. —*Matt V 44.*

जो तुझे शाप दे उसे तू आशीर्वाद दे। —बाइबिल.

A soft tongue breaketh the bone.—*Prov xxv 15*

विनम्र वाणी हड्डी को भी तोड़ देती है। —बाइबिल.

Forgive and ye shall be forgiven—*Luck. VI 37*

क्षमा कर, तुझे भी क्षमा मिलेगी। —बाइबिल

जब अगले द्वार से क्रोध प्रवेश करता है तब पिछले द्वार से बुद्धि भाग जाती है । —फील्डिंग.

No man is free who does not command himself. —*Pithagoras.*

वह आदमी स्वाधीन नहीं है जो अपने को अपने काबू में नहीं रखता । —पीथागोरस.

An angry man is again angry with himself when he returns to reason. —*Publius Syrus.*

क्रोधी मनुष्य जब शान्त होता है तब उसे अपने ऊपर क्रोध आता है । —पब्लीअस साइरस ।

Anger is certainly a kind of baseness, as it appears well in the weakness of those subjects in whom it reigns.-Children, old folks, sick folks —*Lord Bacon*

निस्संदेह क्रोध नीचता का चिह्न है । यह अपना साम्राज्य बाल, वृद्ध और बीमारों पर रखता है । —लॉर्ड बेकन ।

Forgiveness is the noblest revenge.
क्षमा वैर का सर्वोत्तम प्रतीकार है । —अज्ञात

Whosoever shall smite thee on thy right cheek turn to him the other also. *- Matt V. 39.*

अगर कोई तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे तो बांया गाल भी उसकी तरफ कर दें । —बाइबिल.

Bless them that curse you. —*Matt V 44.*

जो तुझे शाप दे उसे तू आशीर्वाद दे । —बाइबिल.

A soft tongue breaketh the bone.-*Prov xxv 15.*

विनम्र वाणी हड्डी को भी तोड़ देती है । —बाइबिल.

Forgive and ye shall be forgiven—*Luck. VI 37.*

क्षमा कर, तुझे भी क्षमा मिलेगी । —बाइबिल.

मुत्ती [मुक्ति] अथवा सन्तोष

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हओ जस्स न होइ, लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं।

—श्रीउत्तराध्ययनसूत्र, ३२

जिसके मोह नहीं है, समझ लो उसका दुःख नष्ट हो गया और मोह का नाश उसके समझना चाहिए जिसके तृष्णा न हो। तृष्णा उसकी नष्ट हुई है जिसने लोभ का अन्त कर दिया है और लोभ का नाश उसके समझना चाहिए जिसके परिग्रह न हो—जो अकिंचन हो अर्थात् जिसके पास कुछ भी न हो।

वह कौन-सी वस्तु है, जिसके लिए मनुष्य भूख, प्यास, शीत, उष्णता, मार-पीट आदि सहन करते हैं? पर्वत पर चढ़ जाते हैं, खाड़ी में उतर जाते हैं, जंगलों-झाड़ियों में भटकते फिरते हैं, विवेक-बुद्धि को तिलाञ्जलि देकर चोरी-डकैती और हत्या भी करते हैं और दुनिया भर के अनर्थ करते हैं? उसे कौन नहीं जानता? सभी उससे परिचित हैं। वह दुर्गुण लोभ ही तो है, जो सूझते को भी अंधा बना देता है! लोभ के कारण पिता, पुत्र के साथ और पुत्र, पिता के साथ तथा दूसरे परम स्नेही सम्बन्धी भी परस्पर एक दूसरे के साथ दगाबाजी करते हैं! लोभ के चंगुल में फंस कर राजा अपनी प्रजा पर अनाप-शनाप कर का बोझा लाद देता है और उसके प्रेम को खो देता है। कहां तक कहा जाय, लोभ के प्रभाव से परम पूज्य मुनि भी निन्दा के पात्र हो जाते हैं।

लोभ और विषयभोग, यही दो वस्तुएँ ऐसी हैं कि इनका जितना ज्यादा पोषण किया जाय, उतनी ही ज्यादा यह बढ़ती जाती हैं अर्थात् इनकी तृष्णा कभी घटती नहीं है, दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही जाती है। सुन्दरदासजीने ठीक कहा है:—

जो दस बीस पचास भये शत—
होइ हजार तु लाख मगेगी,
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य —
धरापति होने की चाह जगेगी।
स्वर्ग पताल को राज करो तिसना—
अधिकी अति आग लगेगी,
सुन्दर एक संतोष विना,
शठ ! तेरी तो भूख कबहूं न भगेगी।

सच है, संतोष के विना मनुष्य की भूख कभी शान्त होने वाली नहीं है! श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।

अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों त्यों लोभ बढ़ता जाता है।

एक बार पाइरस बादशाह इटली देश को जीतने के लिए तैयार हुआ। तब 'सीनाआस' नामक तत्त्ववेत्ताने उससे पूछा-आप किधर जा रहे हैं?

राजा—इटली को जीतने के लिए।

तत्त्ववेत्ता—इटली को जीत कर क्या करोगे?

राजा—आफ्रिका को जीतेंगे।

त॰ वे॰—फिर?

राजा—फिर आराम और आनन्द करेंगे।

त० वे० तो अभी आराम और आनन्द क्यों नहीं करते ?

परन्तु नहीं, जो लोभी है उसके भाग्य में सिर्फ दुःख और तकलीफ के और कुछ नहीं होता। उसे अपनी मौजूदा हालत में सन्तोष हो ही नहीं सकता।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र (अ. ९) में कितना सुन्दर चित्र खींचा गया है:—

सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥

अर्थात्—लोभी मनुष्य को यदि कोई कैलाश पर्वत के बराबर-बराबर सोने और चांदी के असंख्य ढेर करके दे, तो भी उसकी तृष्णा किंचित् मात्र भी शान्त नहीं हो सकती; क्योंकि धन असंख्यात है और तृष्णा अनन्त है। अनन्त तृष्णा कैसे बुझेगी ? यद्यपि धन बढ़ता जाता है, मगर तृष्णा उससे भी आगे बढ़ती जाती है।

महाभारत के आदि पर्व में ययाति ने कहा है:—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, पुनरेवाभिवर्द्धते।
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं, तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्।
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्।

अर्थात्-जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने से अग्नि शान्त

नहीं होती, किन्तु और अधिक बढ़ती है; उसी प्रकार काम का उपभोग करने से काम कदापि शान्त नहीं होता है, वल्कि बढ़ता ही जाता है। विश्व की समस्त दौलत, धान्य, पशु, स्त्री आदि सब अगर एक ही मनुष्य को मिल जाय तो भी उसकी तृष्णा नहीं बुझ सकती। अतएव तृष्णा का त्याग करना ही उचित है। दुर्मति वाले लोग तृष्णा का त्याग नहीं कर सकते। ऐसे लोग ज्यों-ज्यों वृद्ध होते जाते हैं, त्यों-त्यों उनकी तृष्णा घटने के बदले बढ़ती ही चली जाती है। तृष्णा ऐसी बीमारी है जो मनुष्य के साथ ही मरती है-जिन्दगी भर पिण्ड नहीं छोड़ती। ऐसी स्थिति में मनुष्य को तृष्णा का त्याग करने से ही सुख मिल सकता है।

अगर आप खुले मैदान में जाकर अपनी नजर दौड़ाएँ तो आकाश (क्षितिज) आपको कोस-दो कोस दूर दिखाई देगा। परन्तु जब आप दो कोस आगे, उसी तरह आगे चलेंगे तब फिर उतनी ही दूर दौड़ते जाइए, परन्तु आकाश का कभी अन्त नहीं आएगा। तृष्णा भी इसी तरह अनन्त है-अपार है। संतोष के बिना उसका कदापि अन्त नहीं आ सकता, कभी आप उसका पार नहीं पा सकते।

श्री ठाणांगसूत्र में, आठवें ठाणे में आठ प्रकार के खाड़ (भूख के स्थान) कहे हैं। जो कि इस प्रकार हैं:—स्मशान की, समुद्र की, पेट की, अग्नि की, घर की, मोक्ष की, आकाश की और तृष्णा की। उनमें एक तृष्णा भी है। तृष्णा का यह खड्डा कभी कोई न भर सका है और न भर ही सकेगा।

तृष्णा को जीतने के उपाय

(१) जिसको लक्ष्मी की तृष्णा अधिक हो उसे विचारना चाहिए कि क्या धन में ही सब सुख है? क्या ज्यादा धन से ज्यादा सुख होता है? सच तो यह है कि—

न वि सुही देवता देव लोए,

न वि सुही पुढवी वई राया ।

न वि सुही सेट्ठसेणावईए य,

एगंत सुही साहू वीयरागो ॥

अर्थात्—देवताओं के रहने के लिए रत्नमय विमान हैं। आनन्द के लिए अतिशय सुन्दर देवियाँ हैं जो इच्छानुसार रूप बना सकती हैं। तथापि उनको सुख नहीं है, क्यों कि देवताओं की तृष्णा सब से ज्यादा है। इस कारण वे दूसरे देवों की समृद्धि देख-देखकर ईर्षा से जलकर भस्म होते रहते हैं। पृथ्वीपति राजाओं को भी, जिनके पास दास हैं, दासियां हैं, सेना और लक्ष्मी का विशाल भंडार है, कहाँ सुख है? उन्हें स्वजन और स्व-राज्य के रक्षण की चिन्ता लगी रहती है। सगे स्नेहियों के दगों का इतना डर रहता है कि वे घड़ी भर भी चैन से नहीं सो सकते! इसी प्रकार सेठों और सेनापतियों को भी सुख नहीं है। संसार में अगर कोई सुखी है; तो राग-द्वेषसे दूर रहनेवाले साधु-जन ही सुखी हैं; जिन्हें न किसी प्रकार की तृष्णा है और न चिन्ता है। धन तो प्रायः सदैव दुःखदायक होता है। कहिए—

अर्थानामर्जने दुःखं, अर्जितानाञ्च रक्षणे ।

आये दुःखं व्यये दुःखं, किमर्थं दुःखसाधनम् ॥

धन का उपार्जन करने में भी दुःख होता है और उपार्जन कर लेने के बाद उसकी रक्षा करने में भी दुःख होता है। धन के आने में भी दुःख है और आकर चले जाने में तो और भी अधिक दुःख है। तब हे मनुष्य! तू जान-बूझकर क्यों दुःख-प्राप्ति का साधन करता है?

(२) धन कुछ साथ में पहनने में काम नहीं आता। इससे

को घिसकर पीने से भी कोई दर्द नहीं मिटता। रुपये से बुढ़ापा मिट कर युवावस्था भी तो प्राप्त नहीं होती! धन की बदौलत मौत से भी नहीं बच सकते! फिर कहो, धन किस काम आता है?

(३) यह बात तो है नहीं कि धनवान् चांदी की रोटी, सोने की तरकारी और मोती की चटनी खाता हो और निर्धन मिट्टी की! बल्कि गरीब जन जो अन्न खाते हैं उससे उन्हें अच्छी पुष्टि मिलती है। प्रायः निर्धनों का शरीर धनिकों से ज्यादा पुष्ट होता है।

(४) कीड़ी को कन और हाथी को मन मिल ही जाता है। फिर नाहक इधर-उधर दौड़-धूप कर के आत्मशान्ति गँवाने से क्या लाभ है?

(५) महान् दुःखों से उपार्जित किया हुआ धन भी कायम नहीं रहता। चाहे जितना यत्न करो, समय पूरा होने पर वह अपने आप चला ही जाता है।

(६) मुहम्मद गजनवी नगरकोट का मन्दिर लूटकर २० मन जेवर, २०० मन सुवर्ण, २००० मन चांदी और अनगिनते रुपये ले गया था। इसके अतिरिक्त १६ हमले और करके हिन्दुस्तान से बहुत धन लूट ले गया था। जब वह मरने लगा तब सब धन इकट्ठा कर के, उसके ढेर पर जा बैठा। उसने बालक की तरह रोकर कहा—'हाय! इस धन में से एक कौड़ी भी मेरे साथ नहीं चलेगी!' इतिहास के इस दृष्टान्त से मनुष्य को शिक्षा लेनी चाहिए कि धन किसी के साथ नहीं जाता। सिर्फ उपार्जन किया हुआ पुण्य-पाप ही साथ जाता है।

(७) आपकी अपेक्षा जो निर्धन हैं उनकी स्थिति का विचार करो। आपसे जो अधिक धनवान् हैं उनकी तकलीफों का विचार करो। फिर कहो कि आप सुखी हैं या दुखी हैं?

(८) सन्तोष नीति का सूर्य है। जिस प्रकार सूर्य सृष्टि को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सन्तोष मनुष्य को प्रकाशित करता है अर्थात् मनुष्य को सुख और आनन्द देता है।

(९) उफनते हुए दूध में थोड़ासा पानी डालने से उफान शान्त हो जाता है, वैसे ही समता, चिन्ता से भरपूर जगत् में दुःखों को शान्त करती है।

(१०) अभिमानिनी कुमारिका और लक्ष्मी—दोनों का स्वभाव एक-सा है। जो लोग लक्ष्मी के पीछे उल्लू बने फिरते हैं, उनको यह स्वीकार नहीं करती और जो इसको नहीं चाहते, उसके पास स्वतः आ जाती है।

(११) लक्ष्मी का लोभ मनुष्य को धर्म से, धन से, दया से, शुभ भावना से और सद्विचारों से दूर रखता है, विमुख करता है तथा श्रेष्ठजनों से द्वेष उत्पन्न करा देता है।

(१२) जैसे शरीर के पोषण के लिए अन्न की आवश्यकता है, परन्तु अधिक खा जाने से दर्द हो जाता है, उसी प्रकार संसारी मनुष्य को पैसे की जरूरत है, किन्तु अधिक लोभ करना हानिकारक है।

(१३) धनाढ्यों के* घर में जितने कुकर्म होते हैं, उतने प्रायः किसी अन्य स्थान पर नहीं होते। वेश्यासेवन, परस्त्री-सेवन,

* Gold glitters most where virtue shines no more, as stars from absent suns have to shine.

पर-पुरुप सेवन, अभक्ष्य-भक्षण, जूआ, क्रोध आदि दुष्ट काम जितने बहुत धनवान् के घर होते हैं, उतने शायद ही कहीं होते हो!

(१४) क्रिश्चियन धर्म के पोप (धर्मगुरु) ने स्वर्ग के टिकिट देने का जो ढोंग खड़ा किया था, उसका मूल पैसे का लोभ ही था। निस्पृही महात्मा शंकराचार्य के अनुयायी लोगों को मारने-पीटने लगे, उसका कारण पैसा ही था। जैन साधु, जो अकिंचन होते हैं, उनमें से भी कितनेक तृष्णा के वश होकर दासानुदास बनते हैं और कितने ही भेषधारी लोग श्रावकों के पास अपने रुपये जमा रखते हैं। जरा सोचिए तो सही, पैसा कैसी दुर्दशा कराता है!

(१५) जब किसी मनुष्य को कोई वस्तु प्रिय मालूम पड़ती है तो उसको वह सुवर्ण का ढेला मानकर उसके लिए प्राण भी अर्पण कर देता है; और जब वह प्राप्त हो जाती है तब पीतल के समान तुच्छ प्रतीत होने लगती है। तृष्णावाला पुरुष प्रत्येक अच्छी मालूम होनेवाली वस्तु के पीछे मारामारा फिरता है। मगर प्रश्न सिर्फ मन का है। अतएव वास्तव में सुखी वही है जो आशा को दबा देता है। श्रीमद्भागवत में कहा है—

आशायां परमं दुःखं, नैराश्यं परमं सुखम्।

अर्थात्—आशा ही परम दुःख और निराशा ही परम सुख है

(१६) सोलोमन एक बड़ा भारी विद्वान और पवित्र पुरुष था। परन्तु जब उसे राजा बनाया गया तब वह परमात्मा को भूल गया और दुःखी हो गया।

लार्ड बेकन ने कहा है—बहुत लक्ष्मी को मत खोजो। जो कुछ न्यायसंगत उद्योग में मिले, उसी में सन्तुष्ट रहो। उसका विवेकपूर्वक उपयोग करो, प्रसन्नता के साथ अन्य जनों को दान करो और फिर जो कुछ शेष रहे सो कुटुम्ब के लिए रख जाओ

एक अंग्रेज विद्वान् कहता है—Contentment is the true philosopher's stone

अर्थात्—सन्तोष तत्त्वज्ञानी की परीक्षा की सच्ची कसौटी है। जैसे कसौटी से सोने की परीक्षा होती है, उसी प्रकार मनुष्य के तत्त्ववेत्ता होने की परीक्षा उसके सन्तोष से होती है।

धनवान् का कर्तव्य

(१) पूर्वभव में किये हुए दान आदि के फल स्वरूप ही इस भव में धन की प्राप्ति होती है। जो मनुष्य बैठा-बैठा सब धन खा जाता है, वह मूर्ख गिना जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य पूर्वभव की कमाई के फल को इस में खा जाता है और नवीन पुण्य उपार्जन नहीं करता, वह बड़ा भारी मूर्ख है*। किसनदासजी ने कहा है—

मोसम समे 'किसन' कीजिए असम श्रम,
बैठे कम काम पूंजी गांठ की न खाइए।
काल काल करत करत आवे काल पास,
काल को न आस कछू आज ही बनाइए।
काया में न आई काई तो लों करिले कमाई,
आग लगे मेरे भाई! पानी कहाँ पाइए॥१॥

---

* पोलोक (Pollock) नामक विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि रुपयों को बन्द रखने वाला मनुष्य सबसे पतित और नीच है। लेकिन

But there was one in folly farther gone,
The laughing stock of devils and of men,
The miser, who, with dust inanimate
Held wedded intercourse, of all God made upright,
Most fallen, most abjectly, base art thou!

कोरी कोरी कर कोरी लाख के करोड़ जोडी,
तोऊ माने थोरी जाने लीजे धन लूट के।
माया में अरुझ्यो पर स्वारथ न सूझ्यो,
परमारथ न वूझ्यो भ्रमभारथ में घूट के।
जगत् को देत दगा आन जमदूत लगे,
'किसन' जो सगे वेउ ठगे न्यारे फूट के।
हंस श्रंस खैंचि लियो श्रंग रंग भंग भयो,
जैसे वीन बजत गयो है तार टूट के ॥२

और भी:—

आगे जो ठिकाना सो तो मुलक विराना,
तहाँ गांठ ही का खाना दाना वैठे तिनखाना है
ताते मनमाना पूरा कर ले खजाना,
अब 'किसन' सयाना जो तू दाना मरदाना है

(२) लॉर्ड बेकन कहते हैं–सब गुणों में दान का गुण प्रथम श्रेणी का है। वह ईश्वरीय गुण है। जिस मनुष्य में यह गुण बिलकुल नहीं है अर्थात् जो जरा भी दान नहीं देता वह कीड़े के समान क्षुद्र और तुच्छ प्राणी है।

(३) कोई–कोई अज्ञानी कहते हैं—' यहां का सुख मीठा आगे किसने दीठा।' ऐसा कहने वाले नास्तिक अपने भविष्य को अंधकार से परिपूर्ण बनाते हैं। परलोक है, उस पर अविश्वास करने से वह मिट नहीं सकता। ऐसे लोगों को सोचना चाहिए कि संसार में एक मनुष्य तो ऐसा है जिसके पास रहने को झोंपड़ी भी नहीं है, खाने के लिए भीख मांगने पर भी जिसे रोटी का टुकड़ा नसीब नहीं होता, जो कुटुम्ब परिवार से हीन और रोगों से घिरा है। इसके विरुद्ध दूसरा मनुष्य ऐसा है जिसके पास रहने को

राजमहल हैं, खाने को स्वादिष्ट भोजन है बिना श्रम किये ही जिसे अटूट लक्ष्मी मिली है, परिवार है और परिवार का सुख भी है। इन दोनों की विषमता का क्या कारण है ? वास्तव में मनुष्यों की स्थिति में कई प्रकार की जो विषमताएँ पाई जाती हैं, उन का मूल कारण पुण्य-पाप ही है।

(४) कृपण की लक्ष्मी पुत्री के समान है और उदार पुरुष की लक्ष्मी स्त्री के तुल्य है। जैसे पुत्री का पालन तो पिता करता है, मगर उसे भोगनेवाला दूसरा ही पुरुष होता है, उसी प्रकार कृपण मनुष्य तो धन की रक्षा करता है, परन्तु उसे भोगनेवाले दूसरे ही होते हैं। पुत्र, अन्य स्वजन, राजा, चोर, अग्नि, पृथ्वी, जल आदि कृपण की लक्ष्मी को अपने अधीन कर लेते हैं। उदार पुरुष अपनी स्त्री के समान अपनी लक्ष्मी का आप ही उपभोग करता है। वह लक्ष्मी को साधन बनाकर इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त करता है। अतएव विवेकवान् मनुष्य को इस जन्म में अपनी शक्ति के अनुसार दान-पुण्य अवश्य करना चाहिए।

धनञ्च भूमौ पशवश्च गोष्ठे ।
कान्ता गृहद्वारि जनाः श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे ।
कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।

अर्थात्—धन जहाँ धरती में गड़ा होता वहीं गड़ा रह जाता है। हाथी, घोड़े, गाय, भैंस आदि पशु बाड़े में रह जाते हैं। स्त्री घर के द्वार तक आकर रह जाती है। स्वजन अधिक से अधिक श्मशान तक जाते हैं और शरीर चिता तक साथ देता है। परलोक के रास्ते में जीव को ही जाना पड़ता है। इसलिए धन, दुकान, पशु, घर, स्त्री, स्वजन और शरीर आदि साधनों के द्वारा हुए अगर जो कुछ पुण्य किया होगा वह जीव के साथ जायगा।

(६) कृपण से कृपण यात्री भी दूसरे गाँव जाने से पहले, मार्ग में खाने का प्रबंध कर लेता है–साथ में पाथेय ले लेता है-परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि परभव की यात्रा करने के लिए अपने भोजन का प्रबंध नहीं करता, जब कि यह सुनिश्चित है कि प्रत्येक प्राणी को परभव की यात्रा अवश्य ही करनी होगी और वहाँ किसी को भी पुकार ❀ एवं सहायता नहीं पहुँचेगी। यात्री जो चीज साथ ले जाएगा वही काम देगी। इसके अतिरिक्त यह यात्रा ऐसी है कि जिसके विषय में कोई नहीं कह सकता किस समय करनी होगी। साथ ही इसकी दूरी का भी तो पता नहीं चल सकता! इसलिए प्रत्येक मनुष्य को इस यात्रा के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए और पहले से ही पाथेय जुटा रखना चाहिए। अगर ऐसा न किया तो फिर पश्चाताप करने से भी कुछ लाभ नहीं होगा।

इस कथन से शिक्षा लेकर जो मनुष्य अपने द्रव्य का सदुपयोग करना चाहे और परभव के लिए खर्च साथ में लेना चाहे वह साधुओं तथा अन्य पात्रों को जैसे अनाथों, अपगों को तथा परोपकारी संस्थाओं को दान देकर अपने धनको सार्थक करे।

साधुओं को कैसा दान दिया जाय?

साधु अतिथि कहलाते हैं, क्योंकि उनके आने की तिथि (दिन) निश्चित नहीं है। जो पुरुष आत्मकल्याण की साधना में निमग्न रहते हैं, कंचन-कामिनी के त्यागी हैं तपोधन हैं और सब प्रकार के आरम्भ-समारंभ से विरत हैं, उन्हें १४ प्रकार का दान देने से महान् लाभ होता है। चौदह प्रकार के दानों के नाम इस प्रकार

(१) अन्न (२) जल (३) पकवान (४) मुखवास (५) सूती वस्त्र (६) ऊनी वस्त्र (७) रजोहरण (८) काष्ठ, तूंबा या मिट्टी के पात्र (९) बैठने के लिए बाजोठ (१०) सोने के लिए पाट (११) रहने के लिए मकान (१२) बिछाने के लिए घासफूस (१३ औषध [तिल गुटिकादि औषध] (१४) भेषज ❀ (सोंठ, दालचीनी आदि औषध)

इन चौदह प्रकार की वस्तुओं को जो गृहस्थ अत्यन्त उदारता के साथ मुनियों को देता है, उसे महान् फल की प्राप्ति होती है। वह संसार को भी परीत करके सदा के लिए अपने भविष्य को मंगलमय बना लेता है।

दान के दस प्रकार

श्रीस्थानांगसूत्र में दान के दस प्रकार कहे हैं। उनका स्वरूप और नाम इस प्रकार है—

अणुकंपा संगहे चेव, अभए कालुणिए ति य।
लज्जाए गारवेणं च, अहम्मे पुण सत्तमे।
धम्मे अट्ठमे वुत्ते काहीतिय कतंतिए।

(१) अनुकम्पादान-दूसरे को दुःखी देखकर दया करना और अपनी शक्ति तथा अवसर के अनुसार अन्न-वस्त्र आदि देकर साता उपजाना।

❀ दाता गृहस्थ को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह १४ प्रकार के दान मुनि को देते समय नमक, अग्नि, कच्चा जल आदि सचित्त वस्तुओं का स्पर्श न हो जाय। ध्यान रहे, कोई वस्तु मुनि को ऐसी चाहिए जो उनके निमित्त न बनी हो। गृहस्थ अपने लिए जो वस्तु बनावे, उसी में से मुनिराज के आने पर उन्हें प्रदान करे।

(२) संग्रहदान—अनाथ, असमर्थ, दुष्काल से पीड़ित, राजा-चोर-अग्नि आदि के त्रास से दुःखी प्राणियों की सहायता करना।

(३) अभयदान—कोई निर्दय प्राणी, किसी प्राणी का वध कर रहा हो-तो उसे वध से छुड़ा देना।

(४) कालूणिएदान—स्वजनों की मृत्यु हो जाने पर अन्न-वस्त्र आदि का जो दान दिया जाता है।

(५) लज्जादान—लज्जा से प्रेरित होकर दिया जाने वाला दान।

(६) गोरवदान—अभिमान या बड़प्पन से प्रेरित होकर दिया जाने वाला दान।

(७) अधर्मदान—वेश्या आदि को नचा कर उसे दान देना। इस दान से कुछ भी पुण्य नहीं होता। यह पापबंध का कारण है।

(८) धर्मदान—साधुओं, श्रावकों, एवं सम्यग्दृष्टि जनों को दान देना धर्मदान कहलाता है। धर्मक्रिया के उपकरणों तथा धार्मिक पुस्तकों आदि का दान देना भी धर्मदान है।

(९) काहीतियदान—अमुक मनुष्य ने मेरे ऊपर उपकार किया था, इसलिए उसे ही दान देना उचित है; ऐसा विचार कर दान देना।

(१०) कतंतिय दान—भाट चरण आदि को अपनी कीर्ति फैलाने के अभिप्राय से दान देना।

उपर्युक्त दस प्रकार के दानों में से कौन-से दान उत्तम हैं, कौन-से मध्यम हैं और कौन-से कनिष्ठ हैं, इसका विचार पाठकों को स्वयं कर लेना चाहिए।

दान देने से भंडार खाली होता है* या नहीं, यह बात अगर कृपण को भलीभांति समझाई जाय तो वह अपने आप ही दान देने को तैयार हो जाएगा; क्योंकि तिजोरी में रखे हुए रुपयों में अपने आप कोई वृद्धि नहीं होती है। मगर दान में दिया हुआ रुपया मारवाड़ी सूद से भी अनेक गुणा अधिक बढ़कर प्राप्त होता है। यथा—

> व्याजे द्विगुणं वित्तं, व्यापारे च चतुर्गुणं।
> क्षेत्रे शतगुणं वित्तं, दानेऽनन्तगुणं भवेत्।

अर्थात्—रुपया ब्याज पर देने से दुगुना, व्यापार में लगाने से चौगुना, और खेती में सौगुना हो सकता है, कदाचित् हो, कदाचित् न भी हो, कदाचित् समूल नष्ट भी हो जाय; किन्तु सत्पात्र को देने पर अनन्तगुणा अवश्य होता है।

श्रीमानों को विचारना चाहिए कि मेरे पास इतना धन किस प्रकार आया है? कितने गरीबों को लूटने और कितने जनताओं तथा आसामियों को ठगने पर इसकी प्राप्ति हुई है? अतएव इस धन में सभी का हक है। इस प्रकार विचार कर उदार पुरुष सदैव दान देने में तत्पर रहते हैं, जिससे दूसरों का

* [illegible]

हक किसी न किसी रूप में चुक जाय। ऐसे लोग दान देकर न गर्व करते हैं और न पश्चात्ताप करते हैं।

दान के पाँच भूषण कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

आनन्दाश्रूणि रोमाञ्चो बहुमानो प्रियं वचः।
किञ्चानुमोदना पात्रदानभूषणपञ्चकम् ॥

अर्थात्—(१) दान देते समय दातार की आँखों में आनन्द के आँसू भर आना (२) रोमाञ्च हो जाना—रोमों का विकसित हो जाना। (३) पात्र का आदर-सत्कार करना (४) पात्र को मधुर आलाप से सन्तुष्ट करना; जैसे—आज आपने पधार कर मुझे कृतार्थ किया। (५) अन्य दातारों के प्रति ईर्षा न करना, वरन् उनकी प्रशंसा करना।

जो लोग दान देने से पीछे हटते हैं, उनके भोगान्तराय कर्म का नाश नहीं होता; अर्थात् भविष्य में उन्हें इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। अतएव धनवानों को इस बात का विचार करना चाहिए कि वे अपने धनके द्वारा परोपकार के कौन-कौनसे काम कर सकते है? ऐसे कार्यों में कुछ यह हैं:—

अनाथों की सहायता करना, ज्ञानशाला, धर्मस्थान और पुस्तकशाला स्थापित करना, विधवाओं की सहायता करना, उपकारी पुस्तकें बिना मूल्य या अल्प मूल्य में भेट करना, संसार-सुधारकों की सहायता करना, वीतराग के धर्म का उद्धार करना, धर्मरक्षकों की सहायता करना, अहिंसा के उपदेश और प्रसार के लिए प्रबन्ध करना, दुष्काल आदि के अवसर पर भोजन देना, निर्धन जनों को गुप्त रूप से दान देकर उनकी सहायता करना, आदि-आदि।

ऐसे कार्यों में लक्ष्मी का व्यय करने से धर्म और पुण्य की वृद्धि होती है। यदि प्रत्येक धनी यथाशक्ति इनमें से एक एक कार्य को मुख्य रूप से अपने जिम्मे लेकर कार्य करे तो उसका और जगत् का महान् उपकार हो।

इस बात को कौन नहीं जानता कि एक न एक दिन लक्ष्मी को छोड़कर चलते बनेंगे? तब क्यों न लक्ष्मी का सदुपयोग करके स्वार्थ-परमार्थ दोनों को सुधारा जाय?

सुपात्रदान से क्या लाभ होता है, इस विषय में एक श्लोक लिखकर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है—

लक्ष्मीः कामयते मतिर्मृगयते कीर्तिस्तमालोकते,
प्रीतिश्चुम्बति सेवते सुभगता नीरोगताऽऽलिङ्गति।
श्रेयः संहतिरभ्युपैति वृणुते स्वर्गोपभोगस्थितिः,
मुक्तिर्वाञ्छति यः प्रयच्छति पुमान् पुण्यार्थं धनं।

अर्थात्—जो पुरुष श्रेयस्कर अर्थ के लिए अपने द्रव्य का दान करता है, उसे स्वयं लक्ष्मी चाहती है, सद्बुद्धि खोज करती है, कीर्ति उसकी ओर टकटकी लगाये रहती है, प्रीति उसका चुम्बन करती है, सुभगता उसकी सेवा करती है, नीरोगता उसका आलिंगन करती है, कल्याण परम्परा उसके सन्मुख आती है, स्वर्ग के उपभोग की स्थिति उसका वरण करती है और मुक्ति उसकी अभिलाषा करती है।

卐

ऋजुता–सरलता

मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं अज्जवं जणयइ । —श्रीउत्तराध्ययनसूत्र, २९

अर्थ—प्रश्न–भगवन् ! माया को जीतने से जीव को क्या फल मिलता है ?

उत्तर—हे गौतम ! माया को जीतने से निष्कपटता (ऋजुता–सरलता) की प्राप्ति होती है ।

विश्व में सुवर्ण बहुमूल्य वस्तु है । अतएव धनाढ्य लोग ही सुवर्ण के आभूषण बनवाकर पहनते हैं और अपने शरीर को भूषित करते हैं । सुवर्ण सभी को पसंद है क्योंकि वह अच्छा दिखाई देता है । निर्धनों के पास सुवर्ण नहीं होता । इस कारण वे पीतल के आभूषण बनवा कर, उन पर सोने का झोल चढ़वा लेते हैं और फिर उन्हें पहनते हैं । लेकिन जब कोई मनुष्य ऐसे झूठे सोने का जेवर पहन कर बाजार में जाता है तब व्यापारीगण उसको शीघ्र पहचान लेते हैं और उस पर अविश्वास करने लगते हैं । उसके विश्वास पर वे कोई रकम भी उसे उधार नहीं देते । यही नहीं, वे उसे ढोंगी समझ कर उससे सीधी तरह बात भी नहीं करते ।

आजकल ऐसे ढोंग बहुत चल रहे हैं । कृत्रिम (बनावटी) सोना, नकली हीरा, नकली मोती, नकली रेशम, नकली ज्ञान,

नकली भक्ति और नकली साधुता आजकल बहुत दृष्टिगोचर हो रही है।

हीरा-माणिक-मोती आदि जवाहरात बहुत मूल्यवान् होने के कारण बड़े-बड़े राजा लोगों के पास भी बहुत नहीं होते हैं। परन्तु आजकल अमेरिकन लोगों द्वारा कृत्रिम हीरा-पुखराज-मोती आदि बना देने के कारण, जो देखने में तो बहुमूल्य हीरा आदि का मुकाबिला करते हैं, मगर थोड़े ही दिनों में बिगड़ जाते हैं, बहुत-से लोगों के शरीर पर जवाहरात दिखाई देते हैं। ऐसे जवाहरात वही लोग रखते हैं जो असल में धनवान् तो होते नहीं किन्तु धनवानों की बराबरी करना चाहते हैं और अपने आपको धनवान् सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसे लोग दूसरों की आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न भले करें, लेकिन अन्त में उनकी कलई खुले बिना नहीं रहती। वास्तव में नकली वस्तु असली की बराबरी कभी नहीं कर सकती। ऐसा होता तो अमेरिकन लोग इतने मूर्ख नहीं हैं कि इतने अधिक मूल्य की वस्तुओं को इतने कम दाम में दे जाएँ। वे एक हजार की दिखाई देने वाली वस्तु दो रुपये में ही दे देते हैं। मगर झूठमूठ अमीर बनने वाले लोग थोड़े ही दिनों में हाथ मलते रह जाते हैं। आजकल ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपने आपको गरीब कहलाने में लज्जित होते हैं और दूसरा कोई उन्हें गरीब कह दे तो उसे गाली देते हैं। वे यह नहीं जानते कि गरीबी कोई अपराध नहीं है। गरीब होने पर भी लोग उनका सम्मान करते हैं जिन में सच्चरित्रता और और सद्व्यवहार आदि गुण पाये जाते हैं। दुनिया में जितना दुःख मनुष्य को गरीबी की शर्म का होता है, उतना गरीबी का नहीं होता। जो लोग गरीबी से लज्जित होते हैं, उनके लिए सब से पहले शंकर की सलाह यह है कि वे गरीबी से डर कर अमीरी

तात्पर्य यह कि—धूर्त पुरुष के तीन लक्षण हैं—(१) धूर्त का मुख कमल के पत्ते के समान कोमल होता है; (२) उसकी वाणी चन्दन के समान शीतल होती है और (३) उसका हृदय कैंची के समान होता है।

ढोंगी मनुष्य सदैव डरता रहता है कि कहीं कोई मेरे ढोंग को समझ न जाय, अन्यथा मेरी आफत होगी। मगर कुदरत स्वभाव से ही पर्दे को पसन्द नहीं करती। वह वास्तविक रूप को प्रकाशित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है और धूर्त लोग सदैव सच्चे रूप को छिपाने के लिए प्रयास करते रहते हैं। उन्हें क्योंकि कुदरत के विरुद्ध कार्य करना पड़ता है, इस कारण उन्हें हर घड़ी सावधान भी रहना पड़ता है। उनका हृदय सदा भय से भरा रहता है और वे कभी निश्चिन्तता का आनन्द नहीं उठा सकते।

श्वेताम्बर, पीताम्बर, रक्ताम्बर, कृष्णाम्बर और दिगम्बर तथा तरह-तरह के भेषधारी साधु तो बहुत नजर आते हैं; परन्तु परमात्म-पंथ के साधन में मग्न सत्पुरुष क्वचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं। यही साधु सच्चे साधु हैं। जो परमात्मा के पंथ की साधना में मग्न नहीं हैं वे सब पाखंडी हैं, धूर्त हैं और मान-पूजा-लक्ष्मी के अथवा विषय सेवन के अर्थी हैं। कविरत्न किसनदासजी ने सच ही कहा है—

> जौ लों भग तजी नाहीं तौ लौं भगत जो नाहिं,
> काहे को गुसांइ जो गुसांई सों न यारी है।
> काहे को बिराहमन नारे है बिरायमन,
> कहा पीर जोपे पर पीर न विचारी है।

कैसो वह योगी जन जाको न वियोगी मन,
आसन ही मारी जान्यो आस नहीं मारी है।
उकति उपाय एती उमर गँवाई कछु,
कीनी न कमाई काम भयो न भलाई को।
यहाँ तो सवाई धामधूम ही मचाई पर,
वहाँ तो नहीं है भाई! राज पोपां बाई को।

सच है, वहाँ पोपां बाई का राज्य नहीं है अर्थात् परलोक
पोल नहीं चल सकती। यहाँ कदाचित् धूर्त को दंड देने वाला
मिला तो वहाँ तो अवश्य ही मिलेगा।

श्रीसमवायांग सूत्र में कहा है—तीस प्रकार के महामोहनीय
ग बंध करने वाले अपराधियों को, उनके अपराध का फल ७०
ोड़ा-कोड़ी (करोड़ × करोड़) सागरोपम वर्षों तक भोगना
ड़ता है। इतने समय तक उन्हें बोधिबीज-सम्यक्त्व की प्राप्ति
हीं होती। वे अपराध इस प्रकार हैं:—

(१) त्रसजीव को पानी में डुबा कर मारना।
(२) त्रसजीव का श्वास-निरोध कर के (गला दबा कर)
ारना।
(३) धूम्र के प्रयोग से मारना।
(४) मस्तक में घाव कर के मारना।
(५) मस्तक पर चर्म लपेट कर मारना।
(६) पागल तथा मूर्ख का उपहास करना।
(७) अनाचार का सेवन करके उसे छिपाना।
(८) स्वयं अनाचार का सेवन कर के दूसरे पर आरोप लगाना

(९) सभा में मिश्र भाषा (झूठ-सच) बोलना।

(१०) भोगी के भोगों का बलात्कार से निरोध करना।

(११) ब्रह्मचारी न होकर भी ब्रह्मचारी कहलाना।

(१२) बाल ब्रह्मचारी न होकर भी बाल ब्रह्मचारी कहलाना।

(१३-१४) सब ने मिल कर जिस को बड़ा बनाया हो वह सब को दुःख दे या सब उस बड़े को दुःख दें।

(१५) पति और पत्नी का परस्पर विश्वासघात करना।

(१६-१७) एक देश के या अनेक देशों के राजा का घा करने का चिन्तन करना।

(१८) साधु को संयम से भ्रष्ट करना।

(१९-२०-२१) तीर्थंकर या तीर्थंकर प्रणीत धर्म की त॰ आचार्य उपाध्याय की निन्दा करना।

(२२) आचार्य-उपाध्याय की भक्ति न करना।

(२३) बहुसूत्री (पंडित) न हो कर भी बहुसूत्री कहलाना।

(२४) तपस्वी न होकर भी तपस्वी कहलाना।

(२५) ज्ञानी-वृद्ध-रोगी-तपस्वी-नवदीक्षित की वैयावृत्य-सेवा न करना।

(२६) चारों तीर्थों में फूट डालना।

(२७) ज्योतिष मंत्र आदि पाप-सूत्रों की रचना करना।

(२८) देव मनुष्य और तिर्यंच के अप्राप्त भोगों की अभिलाषा करना।

(२९) धर्म का आचरण करके जो देव हुए हैं उनकी निन्दा करना।

(३०) देव न आते हों, फिर भी कहना कि मेरे पास देव आते हैं।

इनके सेवन से महामोहनीय कर्म बंधता है। श्रीदशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में भी कहा है—

तवतेणे वय(इ) तेणे रूवतेणे य जे नरे,
आयारभावतेणे य कुव्वइ देवकिब्बिसं।
लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिब्बिसे,
तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं॥
तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्भिही एलमूयगं,
नरयं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा।

अर्थात्—जो तपस्वी न होने पर भी अपने को तपस्वी के रूप में प्रकट करता है वह तप का चोर है, जो पंडित न होने पर भी वाचपटुता दिखाकर अपने को पंडित के रूप में प्रकट करता है वह वचन चोर है, अथवा जो शुद्धव्रती न होने पर भी अपने को शुद्धव्रती कहता है वह व्रत का चोर है, जो किसी उत्तम पुरुष के रूप के समान रूपवान् होने के कारण भ्रम से लोगों द्वारा वही उत्तम पुरुष समझ लिये जाने पर भी अपने को उससे भिन्न प्रकट नहीं करता वही रूप चोर है। जो शुद्धाचारी न होने पर भी शुद्धाचारी नाम धराता है वह आचार का चोर है। जो धर्मात्मा न होता हुआ भी धर्मात्मा होने का ढोंग करता है वह भाव का चोर है। इस प्रकार के चोर मरकर किल्विषी (चाण्डाल के समान नीच जाति के देव) होते हैं। वह किल्विषी यह नहीं जान पाते कि किस कृत्य का हमें यह फल मिला है! वे वहाँ से मरकर गूंगे, बकरा आदि होते हैं। तिर्यंच होकर घोर दुःख सहन करते हैं। वहाँ से फिर वह नरक तिर्यंच आदि गतियों में अनेक जन्म धारण करते हैं। उन्हें बोधिबीज सम्यक्त्व की प्राप्ति बहुत दुर्लभ होती है।

दशवैकालिकसूत्र के पाँचवें अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की १७ वीं गाथा में कहा है—

पूयणट्ठा जसोकामी, माण-सम्माणकामए
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वई।

अर्थात्—जो पूजा-यश और सन्मान का अर्थी होता, वह कपटी वहुत पापों का उपार्जन करता है।

ईसा की सत्तरहवीं शताब्दी में 'सेवेटाई सेवा' नाम. एक मनुष्य अपने आपको ईश्वर का दूत कह कर प्रकट कर था। परन्तु कोन्सटेंटिपल शहर के वड़े धर्माध्यक्ष के यह क पर कि, ईश्वर के इस दूत को बंदूक की गोली का निशान बन चाहिए, अगर यह सच्चा होगा तो इस पर गोली का असर न होगा; उसकी पोल खुल गई और वह पकड़ा गया। इसी प्रका बुद्धिमान् पुरुष सव ढोंगियों की परीक्षा करने का कष्ट करे तं संसार में वहुत-से ढोंग कम हो जाएँ।

अंगरेजों की धर्मपुस्तक में कहा है—असल के 'फेरोसी लोग वहुत दान देते थे, सदाचार का दिखावा करते थे, धार्मि क्रियाओं में चुस्त थे, फिर भी ईशु क्राइस्ट उन लोगों के विष में कहा करते थे—यह सव लोग गणिका से अधिक दुष्ट हैं, क्यों गणिका तो स्पष्ट कहती है कि मेरा धंधा बुरा है, लेकिन धर्म का दंभ करने वाले लोग धार्मिक होने का दिखावा करते और इनके भीतर हलाहल विष भरा है। पोप ने इसीलिए क है—

Not always actions show the man, we find w does a kindness, is not therefore kind.

अर्थात्—सामान्य रूप से मनुष्य के हृदय की परी उसके काम से की जाती है, परन्तु यह रीति हमेशा के लि

ऋजुता–सरलता से लाभ

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए काउज्जुयय, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं, अविसंवायणं जणयइ।

अर्थात्—निष्कपटता से काय की, भाव की और भाषा की सरलता उत्पन्न होती है। काय की सरलता से मनुष्य को अपना मुँह किसी के सामने छिपाना नहीं पड़ता। वचन की सरलता से निष्कपट मनुष्य बोलने में हिचकता नहीं है। भाव की सरलता से निष्कपट पुरुष किसी का बुरा नहीं सोचता है। कोई उसका अविश्वास नहीं करता। वह सभी का विश्वासपात्र हो जाता है।

धर्म सरल–सीधा है और माया वक्रगति वाली है। अतः मायावी पुरुषों की धर्म गति नहीं हो सकती। भगवान् ने यही कहा है कि सरल स्वभावी ही धर्म में गति कर सकते हैं। कविवर सेक्सपियर का यह वाक्य ध्यान देने योग्य है—

> To thine own self be true
> And it most follow. as the night the day
> Thou canst not then be false to any man.

अर्थात्—तू अपने प्रति सच्चा बन, जिससे कभी किसी को दगा न दे सके।

आत्मा के साथ सच्चे बने रहने को ही जैन भाव–दया कहते हैं।

अर्थात् न आत्मा को कभी ठगना चाहिए और न दुःख का साधन ही बनना चाहिए। बस, यही भाव–दया है। जो लोग

भाव-दया करना जानते हैं, वे द्रव्य हिंसा और धूर्तता कदापि नहीं कर सकते।

सरल जीव इस लोक में माननीय, श्लाघनीय, निडर और सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर विशुद्ध धर्म का पालन करके, परलोक में अनुक्रम स्वर्ग के तथा मोक्ष के सुखों के भाजन बनते हैं।

चौथा प्रकरण

मृदुता-नम्रता

विणओ जिणसासनमूलं, विणओ निव्वाणसाहगो ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥

राग-द्वेष का विनाश करने वाले जिनशासन का मूल विनय है। विनय रूपी उत्तम मूल वाला धर्मवृक्ष निर्वाण रूप फल देता है। जिसमें विनय का गुण नहीं है उसका धर्म और तप किसी गिनती में नहीं है।

मनुष्य प्राणी में जितना अभिमान पाया जाता है उतना किसी भी अन्य प्राणी में नहीं देखा जाता। इसी अभिमान के प्रमाण से हिन्दुस्तान में अनगिनती जातियां और उपजातियां उत्पन्न हो गई हैं। वणिक् कहते हैं-हम क्षत्रिय की रसोई न जीमेंगे। क्षत्रिय कहता है-हम बनिया का अन्न नहीं खाएंगे। तीन बांमन तेरह चूल्हे की कहावत प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार सभी अपने अपने अभिमान में फँसे हैं। वणिकों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों की बात रहने दीजिए; परन्तु जब भंगी भंगी के साथ लड़ता है तब कहता है-देख, मैं तेरे जैसा नीच नहीं हूं। मेरी जूती में पांव रखने वाला कौन है?' इत्यादि कहकर वह अपने अभिमान को व्यक्त करता है। इस प्रकार सर्वत्र मनुष्यजाति अभिमान से ग्रसित है। बीमारी का इलाज करने के लिए पहले उसके निदान का विचार किया जाता है। अतएव यहां यह देखना है कि अभिमान किन-किन कारणों से उत्पन्न होता है? यह जान लेने पर उसे नष्ट करने के उपाय भी समझ में आ सकेंगे। यह भी ज्ञात हो जायगा कि अभिमान से क्या-क्या हानियां होती हैं। और मृदुता अर्थात् नम्रता से क्या क्या लाभ होते हैं?

अभिमान का निदान

जाति-लाभ कुलैश्वर्य-बल-रूप तपः-श्रुतैः ।

अर्थात्—जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और
ञ, इन आठ कारणों से अभिमान की उत्पत्ति होती है।

१—जातिमद-मेरा जैसा जातिवंत कौन है? मैं ब्राह्मण
क्षत्रिय हूँ, सेठ हूँ, पटेल हूँ। ऐसा अभिमान करने वाला दूसरे
म में चाण्डाल आदि नीच गिनी जाने वाली जाति में उत्पन्न
ता है।

२—लाभमद-मेरे सरीखा लाभ उपार्जन करने वाला
न है? जहाँ जाता हूँ, धन ही धन नजर आता है। जहाँ मेरा
र पड़ता है वहाँ की धूल भी सोना बन जाती है। इस प्रकार
अभिमान करने वाला दूसरे जन्म में निर्धन और भिखारी
ता है।

३—कुलमद-मेरे कुल के समान पवित्र, प्रतिष्ठित और
द्ध कुल किसका है? मेरा दादा मनाजीराव का दीवान था।
उन परशुराम के कुल का हूँ, जिन्होंने इक्कीस बार पृथ्वी को
य-विहीन कर दिया था। इस तरह कुल का अभिमान
ने वाले को परलोक में नीच कुल मिलता है।

४—ऐश्वर्यमद-मैं १०० आदमियों का स्वामी हूँ। मेरे
थ के नीचे इतने आदमी हैं। मैं चाहूँ सो कर सकता हूँ। सब
री आज्ञा का पालन करते हैं और भय खाते हैं। एक को
लाता हूँ और दस हाजिर हो जाते हैं। इस प्रकार का अभिमान
ने वाला आगामी भव में गमार होता है, जिसका कोई कहीं

या वारिश नहीं होता। उसे लाचार होकर हजारों की खुशामद करनी पड़ती है, फिर भी वह पेट नहीं भर पाता।

५—बलमद-कौन है मेरे समान पराक्रमी ! दस-पांच को तो मैं अकेला ही ठिकाने लगा सकता हूँ ! ऐसा घमंड करने वाला भविष्य में निर्बल होता है।

६—रूपमद-मैं कितना सुन्दर जवान हूँ ! भले-भले लोग भी मेरे रूप को देखकर आश्चर्य करते हैं। ऐसा अभिमान करने वाला कुरूप और अपंग होता है।

७—तपमद—मैं कितना बड़ा तपस्वी हूँ मैंने इतनी बड़ी बड़ी तपस्याएँ की हैं कि छोटे तप तो मेरी किसी गिनती में नहीं हैं। ऐसा अभिमान करने वाला अशक्त होता है।

८—श्रुतिमद—मैं बड़ा ज्ञानी हूँ ! मैंने अनेक शास्त्र कंठस्थ कर लिये हैं। भला, मेरे साथ चर्चा करने का कौन साहस कर सकता है ? ऐसा अभिमान करने वाला भविष्य में मूर्ख होता है।

जगत् में यह पूर्वोक्त आठ बातें अभिमान को उत्पन्न करने वाली हैं। यों अभिमान के और भी कई कारण कहे जा सकते हैं, मगर सूक्ष्म विचार करने पर उन सब का उपर्युक्त आठ कारणों में ही समावेश हो जाता है। अतएव इन आठ बातों का विशेष रूप से वर्णन करना उचित है:—

१—जब चित्त में जातिमद का प्रादुर्भाव हो तो मनुष्य को सोचना चाहिए-रे प्राणी ! तू समझता है कि मेरी मातृपक्ष की जाति बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु जरा इतना तो विचार कर कि

१२ लाख कोड़ी कुल पृथ्वीकाय के, ७ लाख कोड़ी अप्-काय के, ३ लाख कोड़ी तेजस्काय के, ७ लाख कोड़ी वायुकाय के, २८ लाख कोड़ी वनस्पति के, ७ लाख कोड़ी द्वीन्द्रिय के, ८ लाख कोड़ी त्रीन्द्रिय के, ६ लाख कोड़ी चौइन्द्रिय के, १२।। लाख कोड़ी जलचर के, १० लाख कोड़ी स्थलचर जीवों के, १२ लाख कोड़ी नभचर (आकाश) में उड़ने वाले पक्षियों) के, १० लाख कोड़ी उरपरि सर्प (पेट से रेंग कर चलने वालों) के, २५ लाख कोड़ी नरक के, २६ लाख कोड़ी देवों के और १२ लाख कोड़ी मनुष्यों के। इस प्रकार सब मिलकर एक करोड, सत्तानवे लाख पचास हजार कोड़ी (कोटि-करोड़) कुल हुए। इन सब कुल में अनेक अनेक वार तू ने जन्म लिया है! फिर भी तू कु का अभिमान करता है! अगर तू समझता है कि तू ने ऊँचा कु पाया है तो उसको सार्थकता ऐसा कार्य करने में है कि जिस फिर कभी नीच कुल में जन्म ही न लेना पड़े!

(३) चित्त में जब लाभमद का प्रादुर्भाव हो तो सोच चाहिए-अरे प्राणी! तू हजार, लाख या दस लाख के लाभ क्यों अभिमान करता है? देख,चक्रवर्ती के पास चौरासी-चौरा लाख हाथी, घोडे और रथ, छयानवें करोड़ पैदल, एक ला छयानवे हजार रानियां और सम्पूर्ण भारत वर्ष के २१ लाख कोमों में राज्य, नव निधान, चौदह रत्न आदि की कितनी विपुल विभूति थी! इस विभूति से अन्त में वे भी सुखी नहीं हुए! उन्हें अनुभव से जब मालूम हुआ कि लक्ष्मी से सुख मिल ही नहीं सकता, तब वे उसे तिनके की तरह त्याग कर अकिंचन साधु बन गये! और तू थोड़ा-सा धन पाकर इतना अभि-मान करता है! यह धन भी सदा तेरे साथ नहीं रहेगा। धन के लाभ से अगर तू दूसरे के लाभान्तराय का छेदन करे तथा दूसरे ऐसे

कार्य करे जिससे पुनः लाभान्तराय का उदय न आवे, तभी धन के लाभ को सार्थक समझना चाहिए।

(४) ऐश्वर्यमद का जब चित्त में प्रादुर्भाव हो तब विचारना चाहिए—अरे प्राणी! तेरा ऐश्वर्य है किस गिनती में? तू जरा सुप्रसिद्ध राजा रावण के ऐश्वर्य को देख। एक कवि ने कहा है—

असी क्रोड़ गज बंध, अर्ब दस तुरी तुखारा,
साठी क्रोड़ पचास पायदल गोल अठारा,
सोलह सौ सामन्त सहस इक पंद्रह राजा,
गर्व धरत हूँ संक बजत इन्द्रापुर वाजा,
टांचे सीस दस कागले, एक दिवस ऐसो भयो,
नर नरिन्द्र मत गर्व कर, कह रावण किम बिन गयो?॥

जैन साहित्य के उल्लेख के अनुसार रावण के पास २१ लाख हाथी, २१ लाख घोड़े, २१ लाख रथ और २४ करोड़ पैदल सेना थी। उसने हजारों विद्याएँ सिद्ध कर ली थीं। कुंभकर्ण और विभीषण जैसे पराक्रमी भाई और इन्द्रजीत तथा मेघनाद सरीखे पुत्र आदि थे! फिर भी अभिमान के कारण उसका विनाश हो गया। अरे! इस अनादिकालीन संसार में रावण से भी बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली हो-होकर मर गये हैं। उनके सामने तेरा ऐश्वर्य तुच्छ और नगण्य है! वास्तव में वही सच्चा ऐश्वर्य-शाली है जो ऐश्वर्य का अभिमान नहीं करता, दूसरे ऐश्वर्यशालियों से ईर्ष्या नहीं करता, और दीन-हीन जनों की सहायता में अपना ऐश्वर्य लगा देता है। वही अपने ऐश्वर्य को सार्थक करता है।

(५) चित्त में रूप का मद उत्पन्न होने पर साधक को विचार करना चाहिए—अरे प्राणी! तू अपने रूप का क्या अभि-

१२ लाख कोड़ी कुल पृथ्वीकाय के, ७ लाख कोड़ी अप्काय के, ३ लाख कोड़ी तेजस्काय के, ७ लाख कोड़ी वायुकाय के, २८ लाख कोड़ी वनस्पति के, ७ लाख कोड़ी द्वीन्द्रिय के, ८ लाख कोड़ी त्रीन्द्रिय के, ६ लाख कोड़ी चौइन्द्रिय के, १२।। लाख कोड़ी जलचर के, १० लाख कोड़ी स्थलचर जीवों के, १२ लाख कोड़ी नभचर (आकाश) में उड़ने वाले पक्षियों) के, १० लाख कोड़ी उरपरि सर्प (पेट से रेंग कर चलने वालों) के, २५ लाख कोड़ी नरक के, २६ लाख कोड़ी देवों के और १२ लाख कोड़ी मनुष्यों के। इस प्रकार सब मिलकर एक करोड, सत्तानवे लाख, पचास हजार कोड़ी (कोटि–करोड़) कुल हुए। इन सब कुलों में अनेक अनेक बार तू ने जन्म लिया है! फिर भी तू कुल का अभिमान करता है! अगर तू समझता है कि तू ने ऊँचा कुल पाया है तो उसको सार्थकता ऐसा कार्य करने में है कि जिससे फिर कभी नीच कुल में जन्म ही न लेना पड़े!

(३) चित्त में जब लाभमद का प्रादुर्भाव हो तो सोचना चाहिए–अरे प्राणी! तू हजार, लाख या दस लाख के लाभ का क्यों अभिमान करता है? देख,चक्रवर्ती के पास चोरासी–चौरासी लाख हाथी, घोड़े और रथ, छयानवें करोड़ पैदल, एक लाख छयानवे हजार रानियां और सम्पूर्ण भारत वर्ष के २१ लाख कोसों में राज्य, नव निधान, चौदह रत्न आदि की कितनी विपुल विभूति थी! इस विभूति से अन्त में वे भी सुखी नहीं हुए! उन्हें अनुभव से जब मालूम हुवा कि लक्ष्मी से सुख मिल ही नहीं सकता, तब वे उसे तिनके की तरह त्याग कर अकिंचन साधु बन गये! और तू थोड़ा-सा धन पाकर इतना अभि-मान करता है! यह धन भी सदा तेरे साथ नहीं रहेगा। धन के लाभ से अगर तू दूसरे के लाभान्तराय का छेदन करे तथा दूसरे ऐसे

मान करता है ! तुझमें कितना-सा वल है ! तीर्थंकर के वल का तो विचार कर। देख, २००० सिंह का वल एक अष्टापद में होता है, एक लाख अष्टापदों का एक वलदेव में, दो वलदेवों के वरावर वल एक वासुदेव में, दो वासुदेवों के वरावर वल एक चक्रवर्ती में, करोड़ चक्रवर्तियों का वल एक देवता में, एक करोड़ देवताओं के वरावर वल एक इन्द्र में और अनन्त इन्द्र भी इकट्ठे होकर तीर्थङ्कर की छोटी उंगली भी नमाने में समर्थ नहीं हो सकते। (ऐसा ग्रंथ में लिखा है।) अव विचार कर कि इन सव के वल की तुलना मे तेरा वल किस गिनती में है ! इस जमाने मे भी ऐसे-ऐसे मल्ल मौजूद हैं जो कोसों दूर दौड़ते-दौड़ते जा सकते हैं, सौ आदमियों को हरा सकते हैं, पचीस आदमियों का वोझा अकेले उठा सकते हैं, लोहे की सांकल को तड़ाक से तोड़ सकते हैं, मोटर को पकड़ कर रोक सकते हैं। इनके आगे तेरा वल है किस खेत की मूली ! जो वलवान् होकर दूसरे को नहीं सताते और संयम, तप, व्रतपालन आदि में अपने वल का व्यय करते हैं, वही अपने वल को सार्थक करते हैं। उन्हीं का वल प्रशंसनीय होता है।

(६) रूपमद उत्पन्न होने पर यह विचारना चाहिए कि-इस गंदी काया का क्या अभिमान किया जाय ! इस शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम हैं और प्रत्येक रोम में पौने दो करोड़ रोग भरे हैं। इस हिसाव से मनुष्य के शरीर में पांच करोड़ से भी अधिक रोग भरे पड़े हैं।

एक वार सनत्कुमार चक्रवर्ती स्नान कर रहे थे। उस समय एक देव उनके रूप को देखकर चकित हो गया। इस पर चक्रवर्ती ने गर्व के साथ कहा—अभी तो मेरा शरीर तेल आदि से भरा है। इसकी शोभा तव देखना जव मैं वस्त्राभूषणों से

हैं। यही कारण है कि जब पूजने का समय आता है तो
पांव ही पूजे जाते हैं। साथ ही नाक यद्यपि ऊँची है
निकम्मी है। अतएव जब बात आती है तो लोग उसे ही काट
को कहते है—तेरी नाक काट डालेंगे !

बड़ा बनने की इच्छा कौन नहीं करता ! किन्तु बड़ा ह
सहज नहीं—कठिन है। देखो न, खाने के लिए जो 'बड़ा' बन
जाते उन्हें भी कितने कष्ट सहन करने पड़ते हैं:—

पहले थे वे मर्द, मर्द के नार कहाये,
कर गंगा-स्नान शिला से युद्ध कराये।
हुए समुन्दर पार घाव बरछी के खाये,
इतने सह कर कष्ट 'बड़ा' का पद तिन पाये।

सत्य है कि कभी-कभी दुष्ट लोग अच्छे मनुष्यों की नम्र
से अनुचित लाभ उठाते हैं और उनको हानि पहुँचाते हैं कि
फिर भी जो वास्तव में बड़े होते हैं, वे अपनी नम्रता कदा
नहीं छोड़ते। वे समझते हैं—

बड़े को दुख पूर है, छोटे को दुख दूर।
तारा तो न्यारा रहे, ग्रहे चंदे अरु सूर ॥

ग्रहण तो चन्द्रमा और सूर्य का ही होता है, न कि तार
का; मगर प्रशंसा किसकी होती है ? चन्द्र-सूर्य की या तारों की

नम्र मनुष्य अपनी मीठी बोली के कारण सब का मि
बना रहता है। उनके चलने की रीति, पोशाक, वाणी आ
सभी बातें दंभरहित होती हैं। इस कारण कोई भी उससे ई

Modesty is not only an ornament but a shield.

अर्थात्—सौजन्य अलंकार और ढाल–दोनों का काम करता है। और—

Man's merit rise in proportion to their modesty.

अर्थात्—मनुष्य ज्यों-ज्यों नम्र होता है त्यों त्यों उसकी योग्यता बढ़ती है।

अन्त में एक प्रभावशाली दृष्टान्त के साथ यह प्रकरण समाप्त किया जाएगा।

एक नदी के किनारे ओक नामका एक बड़ा वृक्ष था और सैकड़ों रामसर (कूंचा-सरखट) थे। एक दिन पवन के तीव्र वेग से वह वृक्ष मूल से टूट गया और नदी में बहने लगा। बहते-बहते उसकी दृष्टि रामसर पर पड़ी। वह उन सब रामसरों को अपने-अपने स्थान पर जमा हुआ देख कर बोला-अरे क्षुद्रो! क्या तुम अब तक खड़े हो?' एक नम्र रामसर ने उत्तर दिया-जी हाँ कृपालु, जब-जब पवन का झोंका आता था और पानी की हिलोरें आती थीं, तब-तब हम नीचे झुक जाते थे और पवन तथा पानी हमारे सिर पर हो कर निकल जाते थे; और जो नमना नहीं जानता उसका विनाश करने के लिए आगे दौड़ जाते थे।

जिस पर अगर कोई मनुष्य सिर पर बोझ रखकर उसे तिरना चाहे और ऐसा करने में उसे अधिक कठिनाई हो तो क्या आश्चर्य है ?

थोड़े बोझ वाले को थोड़ी तकलीफ और बहुत बोझ वाले को बहुत तकलीफ होती है, यहाँ तक कि बहुत बोझ वाले कोई-कोई तो डूब ही जाते हैं। 'राजेश्वरी सो नरकेश्वरी' की जो कहावत प्रसिद्ध है उसका भी यही कारण है। क्योंकि राजा के सिरपर कुटुंब, प्रजा आदि का बहुत बोझ होता है इसीलिए वह संसार-सागर से नहीं तिर सकता और डूब कर नरक-तल में जाता है। तिरता वही है जो अपने सिर से इस बोझ को उतार फेंकता है और निवृत्तिमय जीवन व्यतीत करता हुआ आत्म-कल्याण में रत होता है।

प्राणान्त के समय मनुष्य की दृष्टि में जो-जो वस्तुएँ आती हैं, वह उन सब की इच्छा करता है। द्रव्य अगर दृष्टि में आता है तो द्रव्य ही को पकड़ कर सिर पर रख लेना चाहता है। घर नजर आता है तो उसी को लेने दौड़ता है। सुन्दरी दृष्टिगोचर होती है तो उसे ही ग्रहण करना चाहता है। इसी प्रकार पुत्र, मित्र आदि जो भी उसे दिखाई देते हैं, वह उन सब को समेट लेना चाहता है। उसे यह विचार ही नहीं आता कि इन बोझों को मैं किस प्रकार उठा सकूँगा ? और यह बोझ मेरी गति को मन्द करेगा या मुझे भी ले डूबेगा ? ऐसे ही एक मूर्ख की कहानी इंग्लैंड में प्रचलित है। वह इस प्रकार है:—

एक आदमी यात्रा पर जाते समय अपनी कुर्सी, टेबिल, प्याला, वस्त्र, कागज, पुस्तक, बर्त्तन, बत्ती, दावात, कलम, बिछौना आदि-आदि सब चीजें साथ में लेकर चला। यह सोच

बड़े-बड़े श्रीमन्त लोग, जो अनेक प्रकार का व्यापार करते हैं, जिन्हें लेन-देन, तेजी मन्दी आदि में नफा-नुकसान-होता रहता है, अनेक प्रकार की चिन्ताओं से ग्रस्त रहते हैं। वे दिनरात चिन्ता में डूबे रहते हैं कि-'कहीं मेरे धन को कोई खा न जाय! कोई दुकान न बैठ जाय ! कहीं जहाज़ न डूब जाय ! तेजी-मन्दी से घाटा न पड़ जाय ! कहीं दीवाला न निकल जाय कि बाप-दादों के नाम में बट्टा लगे ?' इस प्रकार की चिन्ताओं में डूबे रहने के कारण वे घड़ी भर भी चैन से नहीं सो सकते। कोई-कोई तो जिंदगी भर अपने धन को जमीन में गाड़ कर, उसी जमीन पर बिछौना बिछा कर सोया करते हैं और अवैतनिक चौकीदार के समान उस धन की रक्षा किया करते हैं। यहाँ तक कि उस धन के प्रति अतिशय ममत्व होने के कारण वे मर कर सर्प होते है और उसी धन का पहरा दिया करते हैं, ऐसी हालत में जिन पर लक्ष्मी का वजन है, वे किस प्रकार संसार-सागर को पार कर सकते हैं ? यह विचारणीय है।

(२) स्त्री आदि स्वजन:-किसी ने कहा है 'जिनका ज्यादा कुटुम्ब उनको ज्यादा विडम्ब।' यह कथन सर्वथा सत्य है। स्त्री का अलंकार चाहिए, बेटे को वस्त्र चाहिए, भगिनी का लग्न करना है, पुत्री का सुसराल वालों के साथ झगड़ा रहता है सो उसकी व्यवस्था करना है, इत्यादि अनेक झगड़े बहु कुटुम्बी मनुष्य को सदैव अशान्त बनाये रखते हैं। इस अशान्ति के कारण व्यापार-धंधा, ज्ञान-ध्यान आदि किसी भी कार्य में उसका मन नहीं लगता। इतने पर भी आज्ञाकारी पुत्र-कलत्र आदि का संयोग कठिनता से ही मिलता है, जो दुःख-दर्द में एवं निर्धनता में भाग लेते हों ! मूर्ख मनुष्य फिर भी नहीं समझता कि न कोई किसी की स्त्री है, न कोई किसका मित्र है, न पुत्र है, न पिता

और यह कहना ठीक ही है, क्योंकि नमकहराम से बुरा और कोई होता भी तो नहीं है।

मंत्री अपने सदामित्र का रुख देखकर ठंडा पड़ गया। वह चुपचाप वहाँ से चलता बना। अब मंत्री अपने 'पर्वमित्र' के घर की ओर रवाना हुआ। पर्वमित्र ने मंत्री को आते देखा तो वह सामने गया। यथोचित सत्कार करके उसने कहा-मंत्रीजी! आज मेरा भाग्य धन्य है कि आप मेरे घर पधारे। मेरे योग्य कार्य हो सो आज्ञा दीजिए।

मंत्री ने सशंक भाव से कहा-मित्र ! कार्य तो कुछ नहीं है मगर राजा मुझ पर कुपित हो गया है। वह मेरा सिर कटवाना चाहता है। जान बचाने के लिए तुम्हारे यहाँ छिपने आया हूँ छिपा लोगे तो बड़ी कृपा होगी।

मंत्री की बात सुनकर पर्वमित्र ने कहा-मंत्रीजी, अफस.. है कि मैं यह नहीं कर सकता। राजा को पता चल जाएगा तो वह मेरा घर बार लूट लेगा। मैं गरीब आदमी हूँ। इस लिए लाचार हूँ। मुझे क्षमा कीजिए। हाँ, सौ-दो सौ रुपयों की आव श्यकता हो तो मैं प्रबंध कर सकता हूँ।

अब मंत्रीजी को निराशा का पार न रहा। वह मरने के लिए तैयार हो गये। परन्तु इतने में ही उसका 'जुहारमित्र' आ दिखाई दिया। वह मंत्री को घबराया देख उसके पास आ और आदर के साथ हाथ पकड़ कर अपने घर ले गया। बैठा कर ठंडा जल आदि पिला कर उसने मंत्री से कुशल-वृत्ता पूछा। मंत्री ने उसे अपना हाल बतलाया। तब जुहारमि बोला—'मेरे प्रिय भाई! आप तनिक भी भयभीत न हों अ आनन्द के साथ मेरे घर रहें। राजा बहुत भोले हैं। वे दो

अगणित जीवों की हिंसा की, न जाने कितने मनुष्यों से झगड़ा किया, और भी अनेक कष्ट उठाए, वह भी अशुभ कर्म का उदय आने पर मनुष्य के कोई काम नहीं आता; बल्कि रोग आदि के वश होकर पहले-से ही जवाब दे जाता है !

दूसरे पर्वमित्र के समान पारिवारिक जनों का विचार कीजिए। स्त्री, पुत्र आदि सब स्वार्थ के सगे हैं। जब तक इनका स्वार्थ सधता है तब तक साथ देते हैं, परन्तु कठिन अवसर आने पर वे भी लाचार हो जाते हैं और विपरीत व्यवहार करने लगते हैं। माता-पिता को ही देखिए। यदि पुत्र सुपुत्र होता है और धन कमा-कमा कर देता है तो वे उसकी प्रशंसा करते हैं। अगर पुत्र कुपुत्र होता है धन कमाने में असमर्थ होता है, तो वही निन्दा करने लगते हैं। कहते हैं-ऐसे पुत्र से तो पत्थर ही अच्छा! इसी प्रकार जिन माँ-बाप के पास धन होता है, उनका पुत्र उनकी सेवा करने के लिए सदा तत्पर रहता है; परन्तु यदि वे निर्धन होते हैं तो उनकी बात भी नहीं पूछता, बल्कि बात-बात में उनका अपमान करने लगता है। क्या पुत्रों को यह कहते नहीं सुना है कि इन बूढ़ों-बुढ़ियों को मौत भी तो नहीं आती ! और कभी-कभी धनी पिता का धन हड़पने के लिए उसका पुत्र ही उसे जहर दे देता है !

स्त्री की बात लीजिए। अगर उसका पति सबल और धनवान् होता है तो वह पति के प्रति प्रीति प्रदर्शित करती है और प्यारे, प्राणनाथ आदि मोहक शब्दों का प्रयोग करती है। अगर पति निर्बल और निर्धन होता है तो वह उसे सदा सताती है और अपने वचन-बाणों से उसके कलेजे को छेदती रहती है। बहुत-सी स्त्रियाँ अपने उदर-पोषण के लिए, पति के विरुद्ध कचहरी में दावा कर देती है। कोई-कोई कुटिल स्त्रियाँ अपने

भर लिया गया तो उस में मनुष्य की ममता स्थापित हो गई अर्थात् उस पानी को वह अपना समझने लगा। इस कारण पानी का बोझ मालूम पड़ने लगा। स्पष्ट है कि बोझ पानी का नहीं, ममता का है।

संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब पर हैं। उन में से कोई भी वस्तु मनुष्य को कुछ भी दुःख नहीं दे सकती। परन्तु उन वस्तुओं में स्थापित किया हुआ ममत्व ही दुःख का कारण होता है।

सब मनुष्य संसार से विरक्त होकर त्यागी नहीं हो सकते फिर भी जो लोग संसार में रहते हुए जितना ममत्व कम करते हैं, उतना ही वे सुख पाते हैं।

नलिन्यां च यथा नीरं, भिन्नं तिष्ठति सर्वदा,
अयमात्मा स्वभावेन, देहे तिष्ठति निर्मलः।

जैसे पानी में उत्पन्न होने वाली कमलिनी पानी से भिन्न ही रहती है, इसी प्रकार शुद्ध-बुद्ध आत्मा देह में रहता हुआ भी देह से भिन्न है।

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं,
समस्त संकल्प विकल्पमुक्तम्।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं,
जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम्।

इस प्रकार जो महापुरुष किसी भी वस्तु में लुब्ध नहीं होते हैं वे संकल्प-विकल्प से मुक्त, आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्वस्वभाव में मग्न होकर रहते हैं। इस तत्व को योगी ही जान पाते हैं।

लगता है। अगर किसी बड़े आदमी को झूठा कह दिया जाता है तो वह मारने दौड़ता है, या अदालत में मानहानि का दावा करता है इन सब बातों से जाना जाता है कि असत्य किसी को भी पसंद नहीं है। सब सत्य के प्रेमी हैं। मनुष्य की बात तो दूर रही, पशुओं और पक्षियों को भी सत्य ही प्रिय है। कितने ही पशु-पक्षी ऐसे हैं जो इकट्ठे होकर बुरा काम करने वाले अपने साथी को दंड देते हैं।

इस प्रकार मनुष्य और पशु-पक्षी-सब को सत्य वचन और सत्कार्य ही पसंद है। इससे यह परिणाम निकलता है कि सत्य ही समाज का रक्षक है। Truth is the very bond of society. सत्य ही धर्म है। किसी भी धर्म में असत्य की हिमायत नहीं की गई है। सत्य वचन, सत्य विचार और सत्य कार्य ही धर्म कहलाता है। अंगरेज लोग उसे Charactor (शुद्ध वर्ताव) कहते हैं, जिसमें word (वचन), Thought (विचार) और deed (वर्तन) इन तीनों का समावेश होता है। पारसी लोग मनस्नी, गवस्नी, और कुनस्नी-इन तीनों का समावेश सत्य में करते हैं।

सब गुणों में सत्य ही प्रधान गुण है। सत्य के अभाव में सब गुण निरर्थक हो जाते हैं। जैसे बिना कीकी (कनीनिका) के चक्षु निरुपयोगी है, उसी प्रकार सत्य के अभाव में अन्य गुण निरुपयोगी हैं। पंडित जन दुनिया में मान पाते हैं, चतुर जन भी सन्मान के पात्र होते हैं। किन्तु यदि पंडित और चतुर जन में सत्य का गुण न हो तो वे गंवार से भी गये बीते हैं। जीवन में सत्य, बुद्धि से भी अधिक काम का है और इन्द्रियनिग्रह विद्वता से भी अधिक लाभदायक है।

सर हेनोटेलर ने सच कहा है-सत्य ही सियानपन अर्थात् सच्चा चातुर्य है। सत्य से यद्यपि मनुष्य एक साथ ऊँची पदवी

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सत्य सिर्फ वचन में ही न हो। मन, तन और वचन–तीनों में सत्य का होना आव- है। सत्य तभी पूर्ण सत्य कहलाता है जब तीनों योगों में व्याप्त होकर रहता है। सच्चा मनुष्य बुरे विचारों को अपने मस्तिष्क में कभी नहीं प्रवेश करने देता। थियोसीफी का मत है कि प्रत्ये विचार मस्तिष्क में पहुँच कर जीवनमय आकृति धारण करत है और इस से भला तथा बुरा कार्य होता है।

जिस देश की प्रजा का विनिपात (पतन-विनाश) हों वाला होता है, वह पहले-पहले विचारों से भ्रष्ट होती है। कोई मरे चाहे जीये, उसकी उसे कुछ चिन्ता नहीं होती सत्य औ झूठ में उसे अन्तर नहीं मालूम होता। इस के बाद वचन में झू आ जाता है और फिर व्यवहार में भी झूठ आ जाता है। अ आपही सोचिए, जब तीनों झूठ इकट्ठे हो गये तो प्रजा की अधोगति होने में फिर क्या देर लगती है!

देखिए, भारत की कैसी हालत है। कोई अच्छा कहे बुरा, इस बात की कोई चिन्ता ही नहीं। व्यापारी लोग अप सन्तान को यह कह-कर पढ़ाते हैं कि झूठ के बिना व्यापार ह नहीं हो सकता। नौकरीपेशा हमेशा यही कहते हैं कि रिश्व लिये बिना हमारा गुजर ही नहीं हो सकता। ऐसी दशा में इ देश की उन्नति हो तो कैसे हो? जब तक भारत वर्ष की प्रज अपने पूर्वजों की सत्कीर्ति को याद कर सच बोलना, ह विचारना और सच बर्ताव करना नहीं सीखेगी, तब तक इ देश की उन्नति किस प्रकार हो सकेगी?

सच्चा मनुष्य अमर है। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी तीर्थंकरों, गणधरों, तत्वज्ञानियों और सतियों के नाम अब भी

देते हैं, किसी का चोमटों से मांस नोंचते हैं, किसी को उबलते हुए तेल की कड़ाही में तलते हैं, किसी को फौलाद की गरम पुतली से आलिंगन कराते हैं और किसी को उबलता हुआ शीशा पिलाते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के घोर दुःख परमाधामी लोग नरक के जीवों को दिन-रात देते रहते हैं। इस प्रकार की नारकीय यंत्रणाएँ इस जीव ने वहाँ जाकर अनन्त बार सहन की हैं।

तिर्यञ्च गति के दुःख

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति-इन एकेन्द्रिय जीवों को पल-पल में छेदन, भेदन, ताड़न, तापन, खण्डन, मारण आदि की कितनी वेदनाएं सहन करनी पड़ती हैं यह सभी जानते हैं। उन बेचारों को क्षणभर के लिए आराम नहीं है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय (लट, जूं, खटमल, बिच्छू आदि) जीवों को भी लोग कितना दुःख देते हैं और मारते हैं! और मछली आदि जलचर, गौ, गधा आदि स्थलचर तथा पक्षी आदि नभचर इत्यादि पंचेन्द्रिय प्राणियों को भी लोग अनेक दुःख देते हैं। दूसरों द्वारा दिये जाने वाले दुःखों के अतिरिक्त भी उन्हें भूख प्यास आदि की घोर यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। इन सब योनियों में जीव ने अनेक बार जन्म लिया है और पराधीन होकर शीत ताप, मारण-ताड़न आदि के अनेक महादुःख सहन किये हैं।

मनुष्य गति के दुःख

मनुष्य योनि में भी अनेक दुःख हैं। प्रथम तो गर्भावस्था में ही अनेक प्रकार की पीड़ा सहन करना पड़ती है। फिर जन्म और मृत्यु के समय भी भयानक वेदनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। यह तो निश्चित आपत्तियां हैं जो मनुष्य मात्र को सहनी ही

साधन है। हिंसा आदि पाँच आस्रवों को त्याग कर अहिंसा आदि पाँच व्रतों को धारण करना ही संयम कहलाता है। वे पाँच व्रत इस प्रकार है:—

अहिंसा महाव्रत—यह नियम कर लेना कि विश्व के सब जीवों को मैं अभयदान देता हूँ। सब की आत्मा मेरी ही आत्मा के समान है। सब को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। अतः मैं किसी भी छोटे या बड़े जीव को, लेश मात्र भी, मन से, वचन से और काय से दुःख नहीं दूँगा। यह अहिंसा-महाव्रत कहलाता है।

इसी प्रकार असत्य भाषण को त्याग देने का, अदत्त को ग्रहण न करने का, परिपूर्ण ब्रह्मचर्य पालने का और परिग्रह त्याग देने का नियम कर लेना शेष चार महाव्रत हैं। इन पाँच महाव्रतों को धारण करके अपने चित्त को पूर्ण रूप से अपने वश में कर लेना 'संयम' कहलाता है।

संसारी (गृहस्थ) जन स्त्री-पुत्र आदि के झगड़े में फँसे रहते हैं, अतः वे सम्पूर्ण संयम का पालन नहीं कर सकते। उनको गृहस्थी चलाने के लिए थोड़े-बहुत हिंसामय कृत्य करने ही पड़ते हैं। सम्पूर्ण संयम तो सिर्फ त्यागी जन ही पाल सकते हैं। फिर भी गृहस्थ लोग बहुत-सी हिंसा से दूर रह सकते हैं और यथाशक्ति संयम भी पाल सकते हैं। इसीलिए गृहस्थों के लिए बारह व्रत बतलाये गये हैं, जिससे उनके संसार-व्यवहार में भी कोई रुकावट नहीं आती और यथासंभव आस्रव भी रोका जा सकता है। वे बारह व्रत इस प्रकार हैं:—

(१) स्थूलप्राणातिपातविरमणव्रत (२) स्थूलमृषावाद-विरमणव्रत (३) स्थूल अदत्तादानविरमणव्रत (४) एक देश

के हाथ, पाव, छाती, कान, मस्तक आदि स्थानों में भाला आदि घुसेड़ने से तीव्र वेदना होती है, परन्तु यह बोल नहीं सकता; इसी प्रकार पृथ्वीकाय के जीव भी वेदना का अनुभव करते है। इसलिए—

'तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, समारभन्ते वि अण्णे न समणुजाणेज्जा। जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाया भवति से हु मुणी, परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

अर्थात्—ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुषों को स्वयं पृथ्वीकाय को हिंसा नहीं करनी चाहिए, दूसरे से नहीं करानी चाहिए और न किसी और को हिंसा करते देखकर उस की अनुमोदना ही करनी चाहिए। जो पुरुष पृथ्वीकाय की हिंसा को अहितकर समझकर त्याग देते हैं वही साधु समझे जाने चाहिए।

(२) अप्कायसंयम-अर्थात् पानी के जीवों की हिंसा का त्याग करना। नदी, समुद्र, सरोवर, वर्षा, बर्फ, ओले, आदि अनेक प्रकार के जलकाय के जीव हैं। जल के एक बूंद में असंख्यात जीव होते है। अगर प्रत्येक जीव भौंरे क बराबर शरीर धारण कर के उड़ने लगे तो इस सारे जम्बूद्वीप में न समावें। अप्काय के जीव, पृथ्वीकाय के जीवों से भी ज्यादा सूक्ष्म हैं। आचारांगसूत्र में कहा है-अप्काय का आरंभ भी अवश्यमेव कर्म-बंध का कारण है, मृत्यु का कारण है, नरक का कारण है। फिर भी मनुष्य कीर्ति, मान, पूजा-प्रतिष्ठा के लिए तथा जन्म-मरण से छूटने और दुःख का प्रतिकार करने के लिए अप्काय के जीवों को तथा उसके आश्रित रहे हुए अन्य भी अनेक जीवों को शस्त्र

(१२) उपेहासंयम-मिथ्यादृष्टि को उपदेश देकर सम्यग्दृष्टि बनाने का, मार्गानुसारी को साधु बनाने का उपदेश देना, और यदि कोई मार्गानुसारीपन से अथवा साधुता से (धर्ममार्ग से) च्युत होता हो तो उसे भलीभाँति समझा-बुझाकर अपने पद पर दृढ़ करना उपेहा संयम कहलाता है।

(१३) पूंजणासंयम-रजोहरण आदि से ज़मीन पूंज (झाड़) कर चलने से पूंजणासंयम पलता है। इस प्रकार जमीन पूंज कर चलने से न केवल जीवों की रक्षा ही होती है, वरन् चलने वाला भी पत्थर, काच आदि लगने तथा बिच्छू आदि के काटने के भय से भी अलग रहता है।

(१४) परिठावणासंयम—पेशाब, थूक, कफ आदि को दरार वाली जगह में या वनस्पति पर या कीड़ी आदि के स्थान पर या भींजी हुई अथवा खुली जगह पर न डालने से परिट्ठावणा-संयम का पालन होता है।

(१५) मनःसंयम—मन को अपने काबू में रखने, किसी का भी बुरा न विचारने, सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने, इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर हर्ष और दुःख आ पड़ने पर शोक न करना मनःसंयम कहलाता है। अच्छी और बुरी वस्तुएँ सब परमाणु के मेल हैं, ऐसा सोचकर मध्यस्थभाव रखना चाहिए।

(१६) वचनसंयम—जिह्वा को अपने काबू में रखना, कठोर, छेदन-भेदन और अन्य जीवों को पीड़ाकारी, हिंसाकारी, मिश्र, क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष आदि को उत्पन्न करने वाले, अप्रीतिकारी, एवं निरर्थक वचन न बोलना वचन-संयम कहलाता है। वचनसंयम वाला सुनी-सुनाई बात को निश्चय किये बिना कभी दोहराता नहीं है।

को दुःख देते हैं। शरीर को भूखा-प्यासा रखने से आत्मा को क्या लाभ है ? ऐसा समझने और कहने वालों से पूछना चाहिए-तुम घी खरीद कर जब उस में से छाछ निकालने को तैयार होते हो तो उसे बर्तन में रखकर अग्नि पर बर्तन तपाते हो। पर क्या तुम बता सकते हो कि छाछ जब घी में है, न कि बर्तन में, तब फिर बर्तन को क्यों तपाते हो ? बस, इसी प्रकार समझना चाहिए कि जैसे घी को शुद्ध करने के लिए, घी के पात्र को तपाना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध करने के लिए, आत्मा के आश्रयभूत शरीर को तपाना भी आवश्यक है।

तप शारीरिक ही नहीं होता, वरन् उसके दो भेद हैं:— (१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप।

बाह्यतप

बाह्य तप के छह भेद हैं—(१) अनशन (२) ऊनोदर (३) भिक्षाचरी (४) रसपरित्याग (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता।

(१) अनशनतप—अन्न, जल, पकवान और मुखवास (स्वाद्य), इन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देना अनशन तप कहलाता है। यह भी दो प्रकार का है—काल की मर्यादा से युक्त तप इत्वरिक कहलाता है और जीवनपर्यन्त आहार का त्याग कर देना 'आवकहियतप' कहलाता है।

इत्वरियतप भी छह प्रकार का है—(१) श्रेणीतप (२) प्रतरतप (३) घनतप (४) वर्गतप (५) वर्गावर्गतप (६) प्रकीर्णतप। इनमें भी श्रेणीतप के अनेक भेद हैं, जैसे-चतुर्थ-भक्त (उपवास-

क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से। अमुक जगह से, अमुक मनुष्य के हाथ से, अमुक वस्तु का आहार अमुक समय पर मिलेगा तब मैं आहार ग्रहण करूँगा, इत्यादि अनेक प्रकार के अभिग्रहों को भिक्षाचरी तप कहते हैं।

(४) रसपरित्यागतप—दूध, दही, घृत, तेल, मिष्टान्न आदि रस का त्याग करना रसपरित्याग कहलाता है। इस तप को तपने वाले महात्मा रूखा, सूखा निर्दोष आहार, जैसा भी मिले, उसे ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा करने से उनको समभाव, सहनशीलता तथा इन्द्रियनिग्रह की शक्ति मिलती है।

(५) कायक्लेशतप—काय को धर्मार्थ कष्ट देकर अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन करना कायक्लेशतप कहलाता है। आराम के इच्छुक तथा अपने शरीर की रक्षा करने में ही धर्म मानने वाले लोग धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष—कुछ भी नहीं साध सकते, क्योंकि कष्ट सहन किये बिना कोई भी काय सिद्ध नहीं होता।

कायक्लेशतप के भी अनेक भेद हैं। जैसे-'ठाणठितीय' अर्थात् कायोत्सर्ग करके खड़ा रहे; 'ठाणाई तप' अर्थात् बिना कायोत्सर्ग किये ही खड़ा रहे; 'उक्कुडासणीय' तप' अर्थात् दोनों टांगों के बीच में मस्तक रखकर कायोत्सर्ग करे। 'पडिमाठाई' अर्थात् बारह प्रकार की पडिमा धारण करे। बारह पडिमाएँ इस प्रकार हैं:—

पहली पडिमा—एक महीने तक एक दात* आहार की और एक दात पानी की ले।

---

* आहार या पानी एक बार में जितना पात्र में पड़े उसे एक दात कहते हैं। पानी देते समय धार खंडित होने से दूसरी दात गिनी जाती है।

ग्यारहवीं पडिमा–इस पडिमा में बेला करे। दूसरे उपवास के दिन गाँव के बाहर आठ प्रहर का कायोत्सर्ग करे, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च के उपसर्ग सहन करे।

बारहवीं पडिमा– इस में तेला (अट्ठमभक्त) करे। तीसरे दिन श्मशानभूमि में कायोत्सर्ग करे, एकपुद्गल पर ही दृष्टि रक्खे। उस समय यदि देव या तिर्यंच संबंधी उपसर्ग हो और तपस्वी यदि चलायमान हो जाय तो उसको उन्माद, आदि की बीमारी चिरकाल के लिए हो जाती है। परन्तु यदि दृढ़ रहे तो उसे अवधि, मनःपर्याय या केवल ज्ञान में से एक ज्ञान की प्राप्ति अवश्य होती है।

(६) प्रतिसंलीनतातप—इस तप के चार भेद हैं-(१) इन्द्रियप्रतिसंलीनता (२) कषायप्रतिसंलीनता (३) योगप्रतिसंलीनता (४) विविक्तशयासनसेवना।

(१) श्रोत्रेन्द्रिय (कान), चक्षुरिन्द्रिय (आँख), घ्राणेन्द्रिय (नाक), रसनेन्द्रिय (जिह्वा) और स्पर्शनेन्द्रिय (शरीर) इन पाँचों इन्द्रियों * के जीतने को इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप कहते हैं।

सजीव के, निर्जीव के और मिश्रित के शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के विषय हैं। इस इन्द्रिय के फंदे में फँसकर मृग अपने प्राणों को खो बैठता है।

---

* आँख, कान, नाक, आदि बाह्य अवयवों को इन्द्रिय नहीं समझना चाहिए। वह अवयव है और इन अवयवों के धर्म को (देखने, सुनने आदि को) इन्द्रिय समझना चाहिए। केवल ज्ञानी के इन्द्रियों का आकार होता है परन्तु विकार नहीं होता।

(३) योगप्रतिसंलीनता–मन, वचन और काय रूप योगों को अशुद्ध मार्ग से हटाकर शुद्ध मार्ग में लगाना 'योगप्रतिसंलीनता' तप है।

(४) विविक्तशयनासनसेवना—विविक्त अर्थात् मनुष्यस्त्री, देवस्त्री (देवांगना) और तिर्यंचस्त्री से रहित, तथा नपुंसक से रहित नीचे लिखे अठारह प्रकार के स्थानों शयन करना या रहना विविक्तशयनासनसेवना तप कहलाता है।

अठारह स्थानों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) बैल आदि की गाड़ी (२) कोट युक्त बगीचा (३) उद्यान (४) यक्ष आदि देवों का स्थान (५) प्याऊ (६) धर्मशाला (सराय) (७) लुहार आदि की शाला (८) वणिक् की दुकान (९) साहूकारों की हवेली (१०) उपाश्रय (धर्मस्थानक) (११) श्रावक की पोषधशाला (१२) धान्य के कोठार (१३) मनुष्यों की सभा के स्थान (१४) पर्वत की गुफा (१५) राजसभा (१६) श्मशान में बनी छतरी (१७) श्मशान (१८) वृक्षादि के नीचे।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं—(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) ध्यान (६) व्युत्सर्ग।

(१) प्रायश्चित्त तप—नीचे लिखे दस दोषों का क्षय करने के लिए प्रायश्चित्त तप किया जाता है—

(क) कन्दर्प—काम के वश होकर दोष लगने पर (ख) प्रमाद के वश होकर दोष लगने पर (ग) अनजान में दोष लगने पर (घ) क्षुधा के वश होकर दोष लगने पर (ङ)

पापों का उद्भव होता है। अज्ञान ही नरक-निगोद का कारण है। मोह तथा माया का जोर तभी तक चलता है जब तक मनुष्य अज्ञान को अपनाये बैठा है!

ऐसे त्याग से भी कोई लाभ नहीं है जिसमें अज्ञानता भरी हो। बहुत-से लोग घर-गृहस्थी से दुःखी होकर त्यागी बन जाते हैं, परन्तु अज्ञान का त्याग नहीं करते। इस कारण वे आप भी दुःख उठाते हैं और दूसरों को भी दुःखी करते है। अज्ञान के कारण वे वेरागी (विरागी या वीतरागी) तो हो नहीं सकते, अलबत्ता वेगारी कहे जा सकते हैं। ऐसे लोग अपने कल्पित धर्म का धंधा करके अपना गुजारा करते हैं। दुःख की बात है कि जिस प्रकार उपदेश देने वाले अज्ञान के कारण हिंसा का उपदेश देते हैं, उसी प्रकार सुनने वाले लोग भी उसे अज्ञान के ही कारण ग्रहण भी कर लेते हैं। आत्मिक धर्म को छोड़कर हिंसामय उपदेश करने वाले, इधर-उधर के दो-चार श्लोक बोलकर शास्त्र के पारगामी कहलाने वाले, लक्ष्मी को अपने पास रखने वाले, रेलगाड़ी में बैठकर मुसाफिरी करने वाले असंयमी भेषधारियों की पूजा-मान्यता भी अज्ञान का ही फल है। विवेकवान् को स्वयं ही विचार करना चाहिए कि बिना आचार-विचार के और बिना दया तथा मैत्रीभाव के कोई कैसे साधु हो सकता है? जब तक मनुष्य में पूर्ण संयम नहीं है, वह साधुता का अधिकारी नहीं हो सकता।

[२] ज्ञान से क्या लाभ है ?

ज्ञान से क्या होता है, यदि इस बात को जानने की इच्छा हो तो देखो, जापान देश की १०-१५ वर्ष में ही कैसी अच्छी

इस काल में पहले के दो ज्ञान ही होते हैं। अवधिज्ञान तो कभी किसी पुण्यात्मा मनुष्य को आयु के अन्तिम काल में होता है।

(४) मनःपर्यवज्ञान–जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ की बात को जान ले वह मनःपर्यवज्ञान कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—(१) ऋजुमति और (२) विपुलमति। जिस ज्ञान से दूसरे के मन की सरल–सीधी बात जानी जाय वह ऋजुमति और जो टेढ़ो-मेढ़ी बात को भी जान ले वह विपुलमति कहलाता है। यह ज्ञान विशिष्ट चारित्र वाले ऋद्धिधारी मुनियों को ही होता है।

(५) केवलज्ञान–जिस ज्ञान के द्वारा जीव सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समस्त बातें यथातथ्य जाने, वह केवलज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान जीवन्मुक्त दशा में–तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने वाले अर्हन्त देव को ही होता है।

(४) ज्ञानी किसे कहना चाहिए ?

मनुष्य ज्ञानी तभी कहलाता है जब उसका चारित्र तथा मन, उसके ज्ञान के अनुसार ऊँचा हो। चारित्र और मनोभावना की उच्चता के अभाव में कोई ज्ञानी नहीं कहला सकता, क्योंकि उसे ज्ञान का फल–सदाचार प्राप्त नहीं हुआ है। उसका ज्ञान निष्फल है। सत्पुरुष आत्मार्थी होकर ज्ञान सम्पादन करते हैं। वे वाग्युद्ध अथवा पेट भरने के लिए शास्त्र नहीं रटते। वे जानते हैं कि अमुक कार्य से अमुक लाभ या अलाभ है, तो वे अलाभ के कार्य को नहीं करते हैं। वे शुद्ध चारित्र को ही ग्रहण करते हैं। मराठी में एक जगह कहा है-'व्यर्थ भारी भरो के ले पाठान्तर, जोंवरी

(५) ज्ञान के प्रसार के उपाय

अब मैं बतलाऊँगा कि ज्ञान के फैलाव के लिए प्रत्येक मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है ?

संसारी जीवों का कर्त्तव्य-सूत्रों में बहुत-सी जगहों पर श्रावकों के संबंध में लिखा है—'अभिगयजीवाजोवे, उवलद्धपुण्ण-पावे, आसव-संवर-निज्जंरा-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्ख कुसले ।' अर्थात्-श्रावक जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व के ज्ञाता थे; पुण्य पाप का भेद पहचानते थे; आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बंध, मोक्ष के स्वरूप को जानने में कुशल थे । राजीमतीजी को भी शास्त्र में 'सीलवन्ता बहुस्सुया' कहा है । अर्थात् राजोमतो शीलवती और बहुत शास्त्रों को जानने वाली थीं। इससे सिद्ध है कि प्राचीन काल की स्त्रियां और पुरुष शास्त्र का ज्ञान सम्पादन करने में बहुत प्रेम रखते थे । किन्तु आज लोकोत्तर ज्ञान तो दूर रहा, लौकिक ज्ञान भी वे भलीभाँति प्राप्त नहीं करते । दो-चार वर्ष कामचलाऊ अपनी मातृभाषा और कुछ अंगरेजी पढ़ी कि अपने आपको पंडित समझने लगते हैं ! कला और धंधों की शिक्षा की बिलकुल कमी हो गई है । अतएव देश और धर्म की उन्नति के लिए जिस-जिस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता है, उसका फैलाव करने के लिए प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने लड़के और अपनी लड़कियों को भलीभाँति पढ़ावें और धर्मज्ञ बनावें । विद्याशालाओं और पुस्तकशालाओं की स्थापना करे । अच्छे ग्रंथकारों को उत्तेजना देवें । स्थान-स्थान पर धर्मोन्नति के भाषण देने वालों को सहायता दें । विद्या और धर्म संबंधी मासिक पत्रों तथा साप्ताहिक पत्रों की सहायता करें । मुनिराजों को ज्ञान की वृद्धि के लिए स्थिर करें । उनके ज्ञानाभ्यास का प्रबंध करें, करावें । इत्यादि ।

दसवां प्रकरण

बंभचेरे-ब्रह्मचर्य

'तं बंभं भगवओ'— ब्रह्मचर्य भगवान् है।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र।

'जंबू ! ततो य बंभचेरं उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त सम्मत्त-विणयमूलं।

हे जम्बू ! ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र।

मोक्ष की साधना की दृष्टि से मनुष्यजन्म अन्य सभी जन्मों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। और मनुष्यजन्म में मनुष्य का वीर्य सबसे अधिक उपयोगी है। मनुष्य वीर्य की सहायता से ही सब कार्य कर सकता है। धर्म, कर्म, पुण्य, पाप आदि के प्रत्येक कार्य में इसकी आवश्यकता पड़ती है। वीर्य मानव-जीवन का मुख्य आधार है, प्राणों का अवलम्बन है वीर्यवान् पुरुष तेजस्वी, ओजस्वी, प्रभावशाली और गौरववान् होता है। अतएव वीर्य की बड़ी महिमा है। वीर्य एक अनमोल रत्न है। सारे संसार की सम्पत्ति वीर्य के एक बिन्दु की बराबरी नहीं कर सकती।

खेद है कोई-कोई मूर्ख और दुष्ट लोग वीर्य को व्यभिचार में अथवा अमर्यादित स्वस्त्री संभोग में व्यर्थ नष्ट कर देते हैं।

(१) अरे जीव ! क्या पाखाने में घुसकर तुझे वहाँ ज्यादा ठहरना अच्छा लगता है ?

(२) क्या भोग विलास में ही आनन्द भरा है ?

यदि विचार कर देखा जाय तो उत्तम पुस्तकों के पढ़ने, सत्पुरुषों की संगति करने, दुःखी जनों की सहायता आदि के कार्य करने में जो आनंद है, उसके आगे विषय-सुख का आनन्द किसी गिनती में नहीं है इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात तो यह है कि जितना ज्यादा भोगविलास किया जाता हैं, उतनी ही ज्यादा ताकत घटती जाती है। किन्तु इन उत्तम पुस्तकों के पठन आदि कार्यों से जो आनन्द होता है, वह उसी परिमाण में बढ़ता चला जाता है जिस परिमाण में वे कार्य किये जाते हैं।

(३) यह जन्म, पूर्व जन्म और आगे का जन्म-सभी सांकल के समान हैं-आपस मे जुड़े हुए हैं। इसे क्षुद्र विषय-सेवन में गँवाने वाले मनुष्य मूर्ख हैं।

(४) सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः, स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्त्तव्यः, दानेऽध्ययने तपसि च।

अर्थात्—मनुष्य को तीन बातों में सन्तोष रखना चाहिए-(१) स्वस्त्री में (२) भोजन में (३) धन में। और तीन बातों में सन्तोष नहीं करना चाहिए—(१) दान देने मे (२) अध्ययन करने में (३) तप करने में।

(५) स्त्री का शरीर गंदगी से भरा हुआ है। उसके भीतर हाड़, मांस, रक्त, विष्ठा, श्लेष्मा आदि भरे हैं। एक

अर्थात्-विषयभोग में आसक्त लोग वारम्बार संसार परिभ्रमण करते हैं। इसलिए जो प्राणी मनुष्य-जन्म का अवसर मिला समझ कर विषयादि का त्याग करे वह पराक्रमी पुरुष प्रशंसा का पात्र है। ऐसा पुरुष, संसार में लुब्ध बने हुए अन्य पुरुषों को भी वाह्य-आभ्यन्तर बंधनों से छुड़ाता है।

ब्रह्मचारी महात्माओं के लिए नौ नियम शास्त्रकारों ने बताये हैं। इन नियमों का सावधानी के साथ पालन करने वाला भलिभाँति अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर सकता है। नियम इस प्रकार है:—

(१) देव-मनुष्य-तिर्यंच जाति की स्त्री, पशु और नपुंसक जिस घर में रहते हों उस घर में ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। क्योंकि यदि बिल्ली और चूहा एक ही स्थान में रहें तो चूहे की जान जोखिम में रहती है। श्रीदशवैकालिक के आठवें अध्ययन में कहा है—

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविगप्पियं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए॥

जिस स्त्री के हाथ और पैर कटे हुए हों, कान और नाक भी कटी हुई हो, वह स्त्री चाहे सौ वर्ष की बुढ़िया ही क्यों न हो, ब्रह्मचारी पुरुष उससे दूर ही रहे।

(२) स्त्री के शृङ्गार, वाक्‌चातुर्य, रूप-लावण्य, हाव-भाव आदि की कथा-वार्ता (चर्चा) नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की बातें कामोत्तेजक होती हैं। जैसे नीबू आदि खट्टी चीजों का नाम लेने से मुख में पानी छूटता

(८) ब्रह्मचारी को बहुत आहार नहीं करना चाहिए, मिताहारी होना चाहिए; क्योंकि ज्यादा खाने से शरीर बिगड़ता है और विचार शक्ति निर्बल होती है। नीति, शील आदि शिथिल हो जाते हैं और मन इधर-उधर भटकता फिरता है।

(९) ब्रह्मचारी शरीर की विभूषा न करे अर्थात् शरीर को सिंगार कर आकर्षक रूप न बनावे, क्योंकि ऐसा करने से काम जागृत होता है। साधु जनों के लिए तो इसी कारण स्नान और मंजन आदि का भी निषेध है।

पुराण में भी कहा है—

चित्तं समाधिभिः शुद्धं, वदनं सत्यभाषणैः।
ब्रह्मचर्यादिभिः कायः, शुद्धो गंगां विनाऽप्यसौ॥

जिस मनुष्य का चित्त समाधि से शुद्ध है, जिसका मुख सत्य भाषण से शुद्ध है, और जिसकी काया ब्रह्मचर्य से शुद्ध है, वह गंगास्नान किये बिना ही शुद्ध है।

इस प्रकार नव वाड़ (रुकावट से विशुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने वाले को देव भी नमस्कार करते है। कहा भी है—

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥

—श्रीउत्तराध्ययन।

अर्थात्—दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि भी नमस्कार करते हैं।